

शक्तिशंखनाद

दुर्गा सप्तशती के उपारखान पर निरुद्ध मौलिक
महाकाव्य

८

।

रचयिता

प० लक्ष्मीचन्द्र मिश्र पोष्ट-ज्यागरणाचार्य काव्यतीर्थ

संस्कृताभ्यापक

रामपुरिया कालेज वीरानेर

सनाधिकार सुरक्षित

प्रचारक

नवयुग ग्रन्थ कुटीर

वीरानेर

प्रथमवार

१०००

मूल्य ५००

प्रकाशक
विवेक ग्रन्थमाला
बीकानेर

१-नवयुग ग्रंथ कुटीर
बीकानेर

२- विवेक ग्रन्थमाला
श्री नवलनाथ मठ (ईदगाह बारी बाहर)
बीकानेर

३-५० हरिशंकर मिश्र एम् काम ,
रामपुरिया क्वार्टर न० ८
जेल कुआ, बीकानेर

सुद्रक
शेखरचन्द्र सकसेना
एजुकेशनल प्रेस
बीकानेर

समर्पण

प्रातः स्मरणीय सर्वशास्त्रनिष्ठात पूज्य पितृचरण
पण्डित गङ्गाप्रसाद मिश्र
की स्मृति में



रचयिता
५० श्री लक्ष्मीचन्द्र मिश्र
पोष्ट-व्याकरणाचार्य काव्यतीर्थ

पूर्वनिवेदन

चराचर इस विश्व का नियन्ता अचिन्त्यशक्ति भगवान् महाकाल सदा अखण्ड एकरस होते हुए भी वही भिन्न भिन्न भावों की उत्पत्ति का कारण है। समष्टि एवम् वृद्धि रूप से प्राणियों के द्वारा किये जाने वाले शुभाशुभ कर्मों का फल देने के लिये उस भगवान् महाकाल की भावना में अव्यक्त रूप से जो जो भाव उत्पन्न होते हैं उनका अनुभाव (प्रभाव) उनके स्थूल शरीर इस दृश्य जगत में स्फुटित होकर प्रेम, करुणा, उत्साह, भय, क्रोध, घृणा, आश्चर्य, हास्य एवम् शांति के रूप में व्यक्त होने लगता है। उसी के परिणाम स्वरूप भैशी, दया, त्याग, तपस्या आदि शुभ प्रवृत्तियों का तथा अविश्वास, छद्म, हिंसा, युद्ध आदि अशुभ प्रवृत्तियों का उदय होता है। एही दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को लेकर अन्धे और बुरे युग सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि आते रहते हैं।

फल एवम् युग भी उसी अनन्त काल के विशाल तथा वर्ष, मास, दिन, घटी, पल सूक्ष्म एवम् सूक्ष्मतम अंश कहे जाते हैं।

उक्त चारों युग अपनी अपनी प्रवृत्ति को लेकर प्रतिदिन दैनिक रूप से भी आया करते हैं। जैसे प्रत्येक प्रातः काल में राययुग आता है। उस समय अध्ययन, आत्मचिन्तन आदि सात्विक कार्यों को बल मिलता है। दिन में त्रेता युग आता है। उस समय रजोगुणी प्रवृत्ति के उदय होने का कारण सब प्राणी

अपने अपने कार्य में संलग्न हो जाते हैं। प्रत्येक सायंकाल में द्वापर की प्रवृत्ति होती है। उस समय पहले दोनों युगों की प्रवृत्तियों का हास होने लगता है। रात में तमोगुण प्रबलन कलियुग आया करता है। अतः उस समय निद्रा, आलस्य आदि का उदय होता है तथा चोरी आदि तामसी प्रवृत्तियों को बल मिलता है।

साहित्य जगत पर भी काल का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। किसी भी काव्य के उदय में कोई न कोई कालिक घटना निमित्त होती है। व्यास के द्वारा विद्व पत्नी का देखकर ही आदिकवि के हृदय में रामायण का उदय हुआ था। इसी प्रकार कौरव-पाण्डवों के युद्ध को देखकर वेदव्यास के हृदय में महाभारत जैसे विशाल ग्रंथ का जन्म हुआ था। इस प्रस्तुत "शक्तिशङ्कनाद" महाकाव्य के गुञ्जित होने में भी कारण भारतवर्ष में घटित होने वाली एक असाधारण घटना है।

विक्रमांक सन् २००० में सारे भारतवर्ष में विक्रमद्विसहस्राब्द महोत्सव मनाने की चर्चा चल रही थी। उस समय मन में आया कि महाराष्ट्र विक्रमादित्य के शासन का पवित्र समय भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि का केन्द्र रहा है, अतः उस महापुरुष की इक्कीसवीं शताब्दी के शुभाभिनन्दन के पुरण अवसर पर भारतीय सस्कृति के अनुरूप इक्कीस सगों का एक महाकाव्य निबद्ध करके राष्ट्र को समर्पण करना चाहिए।

अभी काव्य वस्तु का निर्णय भी नहीं हो पाया था कि भगवान् महाकाल पूर्व दिशा पर किये जाने वाले पश्चिम के अत्याचारों से कुपित हो, एक हिटलर को निमित्त मात्र बनाकर युद्ध की प्रचण्ड ज्वाला में लगे भूमने सारे यूरोप का। भारतीय विदेशी शासकों ने अपने विस्तृत साम्राज्य को सुरक्षित

रखने के लिये शान्तिप्रिय पराधीन भारतवर्ष को भी उसी युद्ध की ज्वाला में बलात् भोंक दिया। भारत छुटपटाने लगा क्योंकि वह युद्ध नहीं करना चाहता था। उसके हृदय से “भारत छोड़ो” का प्रबल शब्द निकलकर सारे देश में गूँज उठा। उस शब्द को दबाने के लिए विदेशी शासकों के अत्याचार को कोई सीमा न रही। चारों तरफ अशांति एवम् खुन्नी लूट के अतिरिक्त और कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता था।

दुर्गापूजा के अवकाश में बीकानेर से घर (सुलतानपुर) गया हुआ था। वहाँ के गावों का दशा दयनीय हो रही थी। जिस किटी को पकड़कर पुलिस पीस रही थी और अपनी जेब भर रही थी। सामूहिक दण्ड के नाम पर अशुभ जुमाने गारे सैनिकों के साथ भारतीय क्रांतदास निर्दयता से बसूल कर रहे थे। देश के इस उत्पीड़न एवम् अपमान को देखकर हृदय लुब्ध होगया किन्तु उसका कोई प्रतिकार न देखकर मन में ग्लानि उत्पन्न हुई। देश की दुर्दशा को देखकर और उसके अतीत गौरव को स्मरण करके मन में यह प्रश्न उठने लगा कि यह आर्यदेश अपने स्वरूप को क्या भूल गया? और इसकी अजेयशक्ति मुक्त क्या है?

आश्विन शुक्ल प्रतिपदा को नवरात्र का प्रथम दिन था। दुर्गा सत्सता का पाठ करने लगा। चिरायुव महर्षि माकण्डेय के द्वारा कथित इस उगस्थान में उस दिन कुछ विलक्षण शक्तिरहस्य का भान सा होने लगा। वही कोलाविध्वंसी भलेच्छों का भारतवर्ष पर आक्रमण, वही भारतराज्य के मन्त्रियों का शत्रुपक्ष में मिल जाना। वही महाराज सुरथ का महर्षि सुमेधा से मोह का कारण पृच्छना तथा महर्षि के द्वारा गृष्टशक्ति को जाग्रत करने के उपाय के रूप में शक्ति के तीन चरित्रों का वर्णन करना जैसे जेरे ही प्रश्नों

का उच्चार देने लगे। उमा समय यह निश्चय हुआ कि “जब महर्षि मार्कण्डेय चिन्मय एवम् शमर माने जाते हैं तो उनके द्वारा भारतवर्ष को दिया हुआ यह शक्तिवन्देश भी शमर है इसमें कोई सन्देह नहीं। तभी तो लाखों भारतीय इसका पाठ करते हैं। यह केवल पूजापाठ ही नहीं है वस्तुतः यह राष्ट्रशक्ति के जागरण का पाठ है। इसने महान को दश भूल रहा है अतः इस शक्ति संस्मनाद को गुञ्जित करके राष्ट्र की निद्रा को दूर कर देना चाहिए।” यह इस काव्य के उदय होने का हेतु है।

दुर्गा सप्तशती और गीता भारत के कल्याणकारी मूलमंत्र हैं। इनमें हम आत्मरक्षा और आत्मशक्ति का मूलमंत्र कह सकते हैं। दुर्गा सप्तशती हमको ज्ञानमंत्र का शिखा देकर बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा करने की शक्ति देती है तथा भगवद्गीता कर्तव्य पर दृढ़ता एवम् आत्मशयम सिखा लाती है, जिससे हम अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करके उसका सुरक्षित रख सकें। इस कारण से इन दोनों ग्रन्थों का उदा से भारत में सवप्र आदर है।

गीता पाठ से दुर्गापाठ कई गुना अधिक किया जाता है। इसका कारण यह है कि भारतीय जनता यह बहुत पहले से अनुभव करती आ रही है कि आसुरी प्रवृत्ति के दुष्ट किसी गीतापाठ से उतना नहीं डरते जितना कि किसी शक्ति पूजा से भय मानते हैं। अतएव हमारे पूर्वज सदा से शक्ति पूजा ही पुजारी रहे हैं। शक्ति पूजा भारत के प्रत्येक भाग में आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। शक्तिमहिमा का पाठ होने के कारण ही दुर्गासप्तशती पाठकों का संख्या अधिक है। इस पाठ में शक्तिसाधना करने वाले महाराज सुरय एवम् उनका गुरु महर्षि सुमेषा का सवाद है। यह सुरयोपाख्यान देव भागवत में भी है। इसी उपाख्यान की भित्ति पर यह प्रस्तुत काव्य चित्रित

किया गया है।

महाराज सुरथ के इस उपार्याण का ऐतिहासिक मूल्य पार्श्चात्य दृष्टि से आँकने वाले चाहे कुछ भा आँके बिन्दु भारतीय दृष्टि से यह एक चिरन्तन सत्य इतिहास है। भारतवर्ष में सुरथ का शासन किस समय में था इसका निर्णय करना कठिन है तो भी बलिया प्रांत में बीसों मील में फैला हुआ सुरथताल (सुरहाताल) आज भा उस राष्ट्र हितैषी की काति को स्मरण करा रहा है। "इस ताल को राधा सुरथ ने खुदवाया था" यह जनश्रुति वहा की जाता पूर्वपरम्परा से सुनाती आ रही है। इस ऐतिह्य पर विश्वास न करने का कोई कारण नहीं है।

"कृत्वा मूर्ति महोमयीम्" इस दुर्गा के श्लाक म राजा सुरथ के द्वारा स्थापित का हुई भगवती की निष्ठ मिट्टी की मूर्ति का उल्लेख है यह अस्त्र देवा भा उसी ताल के पास बङ्गाल में प्रसिद्ध है। इनका चित्र अस्त्र देवा अङ्क में दिया गया है। इन प्रमाणों से आज भी इस अस्त्र देवा पर प्रकाश पड़ रहा है।

मार्कण्डेयपुराण की रचना महाभारत की रचना के अति पहले की गई है क्योंकि महाभारत में जिन प्रश्नों का समाधान करने के लिए इस पुराण का ध्यान इस पुराण में किया गया है। इस सुरथ के अस्त्र देवा की स्तुति सतशती के तेरह आयतन में। अस्त्र देवा की स्तुति के अति पहले ही नियन्त्रित करने वाली एक भगवती का अस्त्र देवा, महाभारत महासरस्वती के रूप से प्रकट होता है। अस्त्र देवा की स्तुति स्मरण करने से समस्त दिन अस्त्र देवा की स्तुति है।

दुर्गा-सप्तशती का मूल स्रोत वेद है क्योंकि इसके तीनों चरित्रों का ध्यान ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के रूप में किया जाता है। इसमें वेदों के अनुसार ही शक्ति और देवीसूक्त हैं। वेदों के गूढ़ उपदेशों को सुगमता से समझा देना ही पुराणों की विशेषता है। दुर्गा के तीनों चरित्रों में यष्टुत आयजाति को शक्ति प्राप्त करने एवम् सङ्गठित होने का एक सारगर्भित उपदेश है। शत्रुओं से देश की रक्षा किस प्रकार से की जानी चाहिए, इस महत्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रश्न का भी इसी शक्तिरहस्य में ठोस समाधान है।

त्रिविध दुःखों से सतत जगत को मुक्त शान्ति तत्काल नहीं प्राप्त हो सकती जबतक दुःख उत्पन्न करने वाले कारणों को दूर न कर दिया जाय। दुःख देने वाला शत्रु ही हाता दे, चाहे वह अपने ही अन्दर रहने वाला भीतरी शत्रु मोह ममता हो, चाहे वह अपना हाथ अट्ट कोई दुष्ट हो अथवा बाहरी कोई प्रत्यक्ष शत्रु हो। किसी भी प्रबल शत्रु को दूर करने के लिये शक्ति की आवश्यकता होता है। शक्ति के बिना कोई भी अशक्त देश, समाज अथवा व्यक्ति अपनी रक्षा नहीं कर सकता। किस प्रकार के शत्रु को दूर करने के लिये किस प्रकार की शक्ति अपेक्षित होता है और उस शक्ति का प्राप्त करने के लिए किस प्रकार की साधना करनी चाहिए, इस गूढ़ शक्तिरहस्य का ही दुर्गा-सप्तशती के तीनों चरित्रों में ध्वनित किया गया है।

प्रथम चरित्र की भूमिका तब प्रारम्भ होती है जब महर्षि सुमेधा के सामने अपनी अपनी समस्या लेकर महाराज सुरथ और समाधि वैश्य उपस्थित होते हैं। राजा सुरथ का समस्या सारे भारतवर्ष राष्ट्र का समस्या थी क्योंकि वह भारत पर आक्रमण करने वाले कोलाविश्वसी ग्लेन्डों का भारत से निकालना चाहते थे। समाधि साहू की समस्या वर्तमान थी क्योंकि अपने पुत्रों के द्वारा

तिरस्कृत होकर वह तपोवन में आया था तो भी मन को शांति नहीं मिल रही थी ।

खोए हुए राज्य पर राजा की ममता क्या है ? तथा तिरस्कार करने वाले पुत्रों पर भी समाधि का मोह क्या है ? इन दानों प्रश्नों को एक करके सुमेधा महर्षि के सामने केवल एक प्रश्न रखा जाता है कि मोह में डालने वाला कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि ने कहा कि मोह में डालने वाली एक महामाया शक्ति है । वह विद्वान और मूर्ख तथा मनुष्य एवम् पशु को एक समान मोह में डाल रही है । वही विश्व को उत्पन्न करती है और पालती है । वही कभी मोहनिद्रा में विश्व को मुला देती है । कभी वही जगा भी देती है । वह भक्ति से प्रकट होकर धरदान देती है तथा विपत्तियों को दूर करती है । वही कभी भूतल का भार हरने के लिए अतारण्य होकर असुरों का संहार करती है । उस भगवती के तीन चरित्र सुना रहा हूँ, इनके सुनने से तुम्हारे प्रश्न का समाधान हो जायगा ।

एक हजार चतुर्दश्या तक ब्रह्मा ने अपने दिन भर जो सृष्टि रची थी उसको मोहनिद्रा ने प्रलय में मग्न कर दिया । उस महापति ने विश्वरूप विष्णु को निद्रित कर दिया । विश्व का अधिष्ठाता विधाता भी सो गया । समस्त ईश्वरी शक्तियों के सुप्त हो जाने पर भी उसकी कालशक्ति भगवती महाकाली जागती रहती है । प्रलयरात्रि के अन्त में उसने ब्रह्मा को जगाया । ब्रह्मा के हृदय में पराधायी के रूप में स्वयं ईश्वरी प्रेरणा में अपौरुषेय वेद का भान हुआ । वेदज्ञान होने पर ब्रह्मा की सृष्टिचिन्ना कर्तव्य का ज्ञान हो गया । किन्तु विश्वरूप विष्णु अभी सुप्त पड़ा था । उसको जगाने की एक कठिन समस्या थी । उसके कानों में मल एकत्र हो चुका था । उससे मधु कैटभ दानव

उत्पन्न होकर ब्रह्मा को कष्ट पहुँचा रहे थे। ब्रह्मा ने बहुत प्रयास किया किन्तु विष्णु जाग्रत नहीं हुआ। अतः रात्रिसूक्त से भगवती कालरात्रि की स्मृति करने लगे। वह प्रसन्न हो गयी और अपनी ताम्बी निद्रा को समेट लिया। विष्णु जाग गये और उन्होंने मधु कैटभों का वध करके ब्रह्मा के सृष्टिकाय को सुगम बना दिया।

इस प्रथम चरित्र का तात्पर्य यह है कि जब प्रकृति का प्रकोप हाता है अथवा कोई दैवी आपत्ति विश्व पर आती है तब वह मनुष्य के ज्ञानगर्भ को क्षण मात्र में चूर कर देती है। उसकी सारी चतुराई धरी रह जाती है। हजारों वषा का किया कराया हुआ नष्ट हो जाता है। इस प्रकार की दैवी विपत्ति को दूर करने के लिए दैवी शक्ति के शरण में जाने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। ईश्वरी प्रकोप उसकी कृपा से हा दूर होता है। अतः भौतिकवाद का घमण्ड त्याग करके विश्व को ईश्वरी कृपा रूप शक्ति को प्राप्त करने के लिये उसका स्मरण करते रहना चाहिए। प्रथम चरित्र का कथा से यही रहस्य व्यक्त होता है।

देव विषयासक्त और अकर्मण्य होकर अपने देश के सङ्गठन को भूल गये। उनकी मातृभूमि पर महिषासुर का अविचार हो गया। उसके अत्याचारों से पांडित होकर देवों को अपना दोष ज्ञात हुआ और सब एष्ट्र हुए। उस देवसभा में ब्रह्मा ने देवताओं का दुःख का वर्णन किया। विष्णु और शिव मुख्य देवों की अकुटि क्रोध से कुटिल हो गए। महिषासुर से युद्ध करने का आदेश दिया। सब देवों के शरीरों से एक शक्ति की ज्वाला निकली। यही ज्वाला संघशक्ति एक अद्भुत देवा बन गई। देवगण ने उसके हाथों में अपने अपने शस्त्र दिये। हिमवान् ने उस देवा को विह दिया। वह देवा महिषासुर

पर टूट पड़ी। उसने सारे असुरों का सहार कर दिया। प्रसन्न होकर देवगण उस संघशक्ति की स्तुति करने लगे।

इस मध्यम चरित्र का भाव यह है कि जब देश पर मानुषी आपत्ति आती है या कोई प्रबल शत्रु चढ़ आता है तब वहाँ केवल ईश्वर के स्मरण से रक्षा नहीं हो सकती। वहाँ महालक्ष्मी रूप संघशक्ति को जागृत करना पड़ता है। उस समय सारे देश को संगठित होकर देश की रक्षा करनी चाहिये। प्रबल शत्रु से देश की रक्षा करने के लिए देश को संगठित रहना चाहिये यही इस चरित्र का शक्तिरहस्य है।

नीतिशास्त्र में राष्ट्र की रक्षा के लिए तीन शक्ति बतलाई गयी है। १- मन्त्र शक्ति (ग्रन्थे मन्त्रो), २-उत्साह शक्ति, ३-प्रभाव शक्ति (मेना और कोष) इन तीनों शक्तियाँ को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब देश संगठित हो। परस्पर ईर्ष्याद्वेष न हो तथा शासक उत्साही एवम् नीतिश हो।

उत्तम चरित्र में बतलाया गया है कि महिषासुर का वध करने के समय जो देवगण में एकता हुई थी वह संगठन पुनः खिलभिल हो गया। देव पुनः मूर्ख और आलसी बन गये। उनकी मूर्खता का लाभ उठा कर शुभनिशुभ दानवों ने देवदेश पर पुनः अपना साम्राज्य जमा लिया। चण्ड मुण्ड दानव देवदेश में सर्वाधिक सुन्दरी कौन है? इसकी खोज में विचरने लगे। गंगा के तट पर सब देव एकत्र होकर भगवती की देवायुक्त से प्रार्थना करने लगे। पावती वहाँ स्नान करने आई थी। उसने प्रार्थना का उद्देश्य पूछा। शिवा ने शुभनिशुभ से पीड़ित देवदेश की दुर्दशा बतलायी। यह सुनकर गौरी कोप से काली हो गई। उसके ललाट से काली उत्पन्न हुई। ब्रह्माणी, रुद्राणी, कौमारी, इन्द्राणी, नारसिंहो, वाराही आदि देवियों ने मिलकर असुरों का अपने

बुद्धिबल एवम् शस्त्रबल से नाश कर दिया । इस चरित्र में नारीशक्ति की महिमा है और महासरस्वतीरूप बुद्धिशक्ति की प्रधानता बतलाई गई है ।

देवबल और संगठन होने पर भी विद्या बुद्धि के अभाव में कोई देश अपनी रक्षा नहीं कर सकता । विदुर ने कहा है—

एक हन्यान्न वा हन्यादिपुमुक्तो घनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्यात् राष्ट्रं सराजकम् ॥

घनुषघाती के द्वारा प्रयोग किया हुआ बाण कभी एक को ही मार सकता है किन्तु बुद्धिमान के द्वारा प्रयोग की हुई बुद्धि (नीति) सारे राष्ट्र एवम् राजा को भी मार सकती है ।

अतः इस चरित्र में प्रशा शक्ति प्राप्त करने के लिए देश को विद्योन्नति करनी चाहिये यही इस उत्तम चरित्र का सारांश है । इस चरित्र में यह भी ध्वनित किया गया है कि पुरुषशक्ति की अपेक्षा नारीशक्ति महाप्रबल है । स्त्रियों में भी वीरता के भाव जागृत करने चाहिये । जिससे वे अपनी और देश की रक्षा समय पर कर सकें ।

इन चरित्रों पर आध्यात्मिक दृष्टि से भी प्रकाश डाला जा सकता है किन्तु प्रस्तुत काव्य का भूमिका में उसकी आवश्यकता नहीं है ।

शक्ति के चरित्रों को सुनकर महाराज सुरथ एवम् समाधि वैश्य तीन वर्ष तक तपस्या करते हैं । भगवती उनको वरदान देती है । उसकी कृपा से सुरथ भारतवर्ष को सङ्गठित करके कोलाविष्वसियों को युद्ध में परास्त कर देते हैं । पुनः भारतवर्ष अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त कर लेता है । समाधि को भी आत्मज्ञान हो जाता है । इस उपाख्यान में मोह ममता आदि भीतरी शत्रुओं

और बाहरी शत्रुओं दोनों पर विजय पाने का उपाय बतलाया गया है। इसी शक्ति के गृहस्थ का इस काव्य में व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। इस काव्य का प्रयोजन यश अथवा अर्थ नहीं है। इसका एक मात्र प्रयोजन "शिवेतन्मति" है। जागृत होकर देश अपने अशिव अमङ्गलकारी विचारों का परित्याग करके पुन शिव कल्याण को प्राप्त करे यही इस काव्य का उद्देश्य है।

कविकर्म किसी योग्य कवि से ही हो सकता है किन्तु मैं कवि नहीं हूँ। विशेष करके हिन्दी का। पुनरपि हिन्दी में लिखने का प्रयास इसलिए किया है कि इस शक्ति काव्य के द्वारा सारे भारतवर्ष में राष्ट्रभाषा का प्रचार हो तथा अधिक से अधिक जनता चिरायुष महर्षि के इस शक्तिगृह्य को पढ़कर भारत की मयादा को अक्षुण्ण रखने की प्रेरणा प्राप्त करे।

इस काव्य का प्रकाशन

विक्रम सम्वत् २००० के आश्विन में विजयादशमी को यह काव्य आरम्भ होकर सम्वत् २००४ के माघ की वसंत पञ्चमी को पूर्ण हुआ था। आज विक्रमाब्द २०१५ के प्रथम दिन चैत्रीय नवरात्र में इसका प्रकाशन हो रहा है तो इसमें भगवती की वह इच्छा ही कारण है जिसने इस काव्य को लिखने के लिए मेरे हृदय में प्रेरणा दी थी।

यह काव्य दस वर्ष तक मेरे पास अप्रकाशित ही पड़ा रहा। इसके प्रकाशन का मैंने प्रयास नहीं किया। यदि प्रयास करता भी तो उसमें अर्थाभाव अवश्य बाधा डालता अतः भगवती की इच्छा पर ही उसे छुड़ा दिया था। अब उसकी इच्छा से इसके प्रकाशन में बिन महानुभावों के सहयोग

दिया है उनके विषय में दो शब्द लिखना यहा आवश्यक है ।

आज से डेढ़ वर्ष पहले नागौर मारवाड़ के पास मोठ मागड़ोद गाव में प्रसिद्ध भगवती दक्षिण्यी के पुण्य धाम में सहस्रचण्डी यज्ञ हो रहा था । उस यज्ञ में प० चण्डीप्रसाद प्राकरण साहित्य दर्शनाचार्य प्रधानाचार्य थे । इस काव्य को देखकर आप बहुत प्रभावित हुए । इसके प्रकाशन में सहयोग देने एवम् इस काव्य का परिचय लिखने का वहा आपने वचन दिया । उसी समय से आप इसके लिये प्रयत्नशील रह किन्तु उनका प्रयास तब सफल हुआ जब गत वसन्त पञ्चमी के दिन इस काव्य की चर्चा श्री स्वामी विवेक नाथजी महाराज के सामने चली । स्वामीजी महाराज बीकानेर में स्थित श्री नवलनाथ मठ के अधिष्ठाता हैं । विद्वत्ता के साथ आप में आर्थरसृष्टि के प्रति प्रगाढ़ प्रेम है । इस विषय में विवेक प्रथमाला के रूप में अनेको प्रथम आपने लिखा और प्रकाशित किया है । निरपृष्ट होते हुए भी आप परोपकार में सलग्न रहते हैं । इस काव्य को देखकर आपने मुझे इसको तत्काल प्रकाशित करने के लिए उत्साहित किया और स्वयं प० चण्डीप्रसादजी को लेकर दिल्ली गये । वहा से कागजों का प्रबंध किया । मुद्रण का व्यय भी आपने ही वहन किया है किन्तु आपने इस प्रथम को सबसे अनूतय जो अपना शुभाशीर्वाद देने की कृपा की है इसने लिए मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ और अन्त में भी विवेकप्रथमाला तथा उसके सञ्चालक तपोनिष्ठ श्री स्वामी महाराज के प्रति मैं अपनी हार्दिक श्रद्धा प्रकट करता हूँ जिसकी सहायता से इतने व्ययसाध्य इस प्रथम का प्रकाशन हो सका है ।

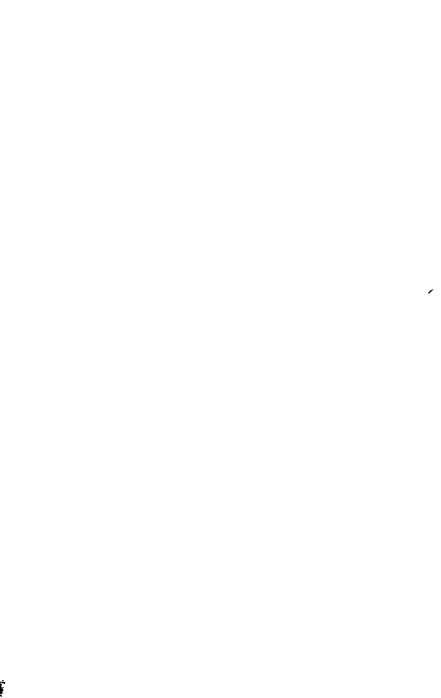
इस काव्य का परिचय लिखने एवम् अन्य सहयोग देने में परिहृत श्री चण्डीप्रसादजी ने जो सहृदयता का परिचय दिया है उसके लिए मैं उनके

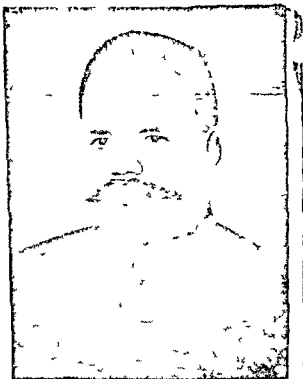
प्रति पूर्ण आभार प्रकट करता हूँ ।

दो मास के भीतर ही इस काव्य के मुद्रण को सम्पन्न करके एज्यूकेशनल प्रोस के सञ्चालक श्री वारे द्रकुमारजी सकमेना ने जो उत्साह का परिचय दिया है उसके लिए मैं उनको अनेक धन्यवाद देता हूँ ।

चैत्र नवरात्र १
विक्रमाब्द २०१५

निवेदक
लक्ष्मीचन्द्र मिश्र





समीक्षक

प० चण्डीप्रसाद शर्मा दाधीच
व्याकरण-साहित्य-दर्शनाचार्य

कवि-काव्य-परिचयः

इस महाकाव्य के रचयिता प लक्ष्मीचन्द्रजी मिश्र व्याकरण साहित्य एवं दर्शनशास्त्र के प्रौढ विद्वान हैं। आपका जन्म आपाढ़ कृष्ण १ सवत् १९६१ में उत्तरप्रदेश के मुजतानपुर मण्डल-तर्गत उधरखपुर ग्राम में हुआ था। आपके पिता प श्री गंगाप्रसादजी मिश्र व्याकरण न्याय एवं वेदांत के लघुप्रतिष्ठ विद्वान थे। उनके आप ज्येष्ठ पुत्र हैं। आपकी विद्या पितृपरंपरागत है। आपने विचार भारतीय संस्कृति के अनूकूल राष्ट्राभ्युदयवादी हैं। रामपुरिया कालेज बोकानेर में आप २४ वर्षों से संस्कृत-ध्यापक हैं। आपके द्वारा लिखित अनेक संस्कृत-शास्त्र-पुस्तकें राजस्थान शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत हुई हैं। इस शक्तिशखनाद महाकाव्य के अतिरिक्त हिन्दी में आपके द्वारा रचित “शिवाञ्जलि” भक्तिकाव्य आकार में छोटा होते हुए भी उदात्त भावों से पूर्ण है।

पराशक्तिर्द्धिमथी विजयते

यह “शक्तिशखनाद” श्रीदुर्गासप्तशती के उपाख्यान पर निबद्ध एक महाकाव्य है। आद्योपान्त इस के देखने से प्रतीत होता है कि यह महाकाव्य कवि के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान का परिणाम है। इसके प्रत्येक प्रकरण में लेखक की सर्वशास्त्रीय मर्मज्ञता का परिचय मिलता है। महर्षि भार्गवदेव के द्वारा उद्बोधित इस शक्तिरहस्य का भारत राष्ट्र की रक्षा के साथ

सम्बन्ध दिखलाते हुए राष्ट्रशक्ति को जाग्रत करने का यह सुन्दर प्रसव वास्तव में एक उचित राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति है। इतने बड़े प्रबन्ध काव्य में भी कवि ने पूर्वापर सम्बन्ध का पूरातन्त्र निर्वाह किया है। महाभारत विक्रमादित्य की इक्कीसवीं शताब्दी की सत्ता के प्रतीक स्वरूप होने के कारण इस महाकाव्य के सर्गों का इक्कीस सत्ता श्रीचित्यपूर्ण है। रात्रिवृत्त देवीसूक्त एवं अथ महत्त्वपूर्ण प्रकरण कवि की प्रतिभात्मयी भूमिक में उतरकर देदीप्यमान हो उठे हैं और वे भगवती की महिमा का ऐसे एतद्वाचात् आँलों के सामने अद्भुत चित्र सा प्रस्तुत कर देते हैं। इस महाकाव्य में दर्शन एवं राजनाति के जितने तत्त्व अंकित हैं उनकी पृष्ठभूमि पर यदि विस्तार से विचार किया जाय तो एक विशाल ग्रन्थ का रूप बन जायगा अतः यहाँ कुछ दिग्दर्शन मात्र विचार किया जा रहा है।

१ प्रथम सर्ग के आदि श्लोक में शिष्टाचारानुकूल वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण के रूप में शक्तिसमन्वित समाहित शिवधाम अभय भारत का ही एकमात्र भवतस्त का शरण बतलाया गया है। द्वितीय श्लोक में असंस्कृत शब्दों से भव को भीत देखकर भगवती अपने अभयपूरित शखनाद से पुनः शिवधाम को अनिद्रित कर रही है, इससे ध्वनित होता है कि इस महाकाव्य का प्रयोजन राष्ट्रजागरण है। पुनः "कामरूपी पिशाच से समस्त विश्व के प्रसूत होने पर भी भारत की शिवदृष्टि ही उससे कुशल बची हुई है" इस कवि के भाव में आर्य देश की महत्ता अभिव्यक्त हुई है। अनेक विशेषताओं के साथ हिन्दूजाति की व्यापकता एवं उसके प्राग्रूप का भी इस प्रश्न चित्रण है—

पतितपुञ्ज अस ख्य समा गये बस जहा जनपावन हिन्दु में ।
 रत्न नहीं सकते निज नाम भी नद समाकर निरतृत सिंधु में ॥
 उचित आसन वेदवग्निष्ठ को अवनिशासन बाहुबलिष्ठ को ।
 धन महाजन उद्यमनिष्ठ को गुण दिये जिसने अमनिष्ठ को ॥

भारतीय सम्राट् सुरथ के शासन काल में भारतवर्ष का जो भव्यरूप कवि ने प्रदर्शित किया है उसमें राष्ट्र के प्राचीन वैभवंशाली जीवन की वास्तविक भूजक है ।

२ द्वितीयवर्ग में भारत पर आक्रमण करने वाले कोलाविध्वंसियों को “श्लेच्छा पर्वतवासिन” इस देवी भगवत की उक्ति के अनुसार श्लेच्छ बतलाया गया है । उस समय श्लेच्छों से मिलकर देशद्रोह करने वाले सामन्त मन्त्रियों की उपमा उन वासियों से दी गई है जो अपने ही वश का नाश करने के लिए दावाग्नि उत्पन्न करते हैं—

स्ववश ही करण हैं दवाग्नि में विनाशकारो निज वेणुवंश के ॥

विदेशी शासन को चलाने वाले राजकर्मचारियों को कवि ने कुत्तों से भी निकट बतलाया है—

लगे उसी का करने अनिष्ट वे रहे सदा से जिस देश में पले ।

अनार्य ऐसे अरिदास भृत्य से कुजन्तु भी कुक्कुर हैं कहीं भले ॥

पराजित होने पर भी राजा सुरथ अपने स्वाभिमान को नहीं त्यागता है और यह मृगया का बहाना परके सुमेधा महर्षि के आभ्रम में चला जाता है । वह स्वभिमान व विषय में यह सूक्ति अत्यन्त सुन्दर है ।—

विपत्ति में बन्धु निजाभिमान है मनुष्य का रक्षक एक अन्त में ॥

३ तृतीय सर्ग में सूर्योदय के समय “आदित्यदृश्यस्तोत्र” प्रकरण में अत्यन्त भावोत्साहक एवं आर्यसंस्कृति के अनुकूल है। नदी के किनारे शीतल वायु के विषय में -

जिसका है काम जगत की आत्मा में धूल उड़ाना।
असहाय अवश को बल से भूतल पर नित्य गिराना ॥

इस प्रकार वितक करते हुए सत्संगति की महिमा का वर्णन अत्यन्त रोचक है। पीपल में नारायण रहते हैं, इस विश्वास को पुष्ट करने में युक्तियुक्त विवेचन है। मध्याह्न में स कुचित होने वाली पीपल की छाया एवं स्वच्छन्दा धारा के वर्णन में दो स्वभावों की व्यञ्जना है—

दिवसपति कराम स्पर्श से भीत सी हो
विकल विकल छाया मूल में आरही थी।
मचल मचल आगे कि-तू धारा नदी की
प्रतिपल इठलाती कूल से जा रही थी ॥

४ चतुर्थ सर्ग में मध्याह्नोत्तर का वर्णन कवि की अपनी एक नदर से है। जैसे जल में अपने असुरकुल की कालिमा को घोने के लिए हलती है, इ उत्प्रेक्षा व साथ ‘होता नहीं विषय के अनुमान की भी होतीं निमग्न उन’ यदि दो विषाणें’ इस स्वभावोक्ति से भी अधिक सु दूर तटभूमि को खोदने वा उच्चा (साइ) के दर्पे म सारे विश्व पर सींग तानने का उत्प्रेक्षा है—

या दस चीतकर दुजय शत्रुओं की उ-मत्त सा अखिल भू पर सींग ताने ॥

सि-दूरसिक्त सती के चबूतरे में दम्पती के अद्वैत हृदय का दर्श करके सती की यह प्रशस्ति अत्यन्त प्रशस्त है—

आयें । सतीत्व पर हा तुम्हारी सती के सत्ता पवित्र इस भारत की रहेगी ॥

भारतीय नारी के सच्चे स्वरूप का चित्रण भी भारतीय परंपरा के अनुकूल है—

आचार में विनय अश्रुत में मुखश्री आत्मा अभिन्न पति में रख देवता सी ।
स तुष्ट नित्य करके परिवारसेवा थीं स्वर्ग वे भवन में अपने बसाती ॥

इस सर्ग में गोमहिमा एवं कृषकों के महत्व के साथ ही ग्रामीण भारतीय आदर्श पवित्र जीवन की एक भाँकी मिलती है ।

५ पंचमसर्ग में ब्रह्मशानी का नदी पर आरोप करके उसकी ज्ञानप्राप्ति के साधनों का वर्णन आध्यात्मिक विचार से पूर्ण है । कुलपति महर्षि सुमेधा के आश्रम का तथा आर्षे जीवन का चित्रण पूर्वपरपरा का अविकल रूप है । अचार्यपद का हेतु आचरण है, यह आचार्य की परिभाषा गुरुकुलों के लिए स मानयोग्य है—

हे जिसका आचार्य पूज्यपद आचार्यों से
होता गुरुकुल घन्य उसी के हे चरणों से ॥

६ छठे सर्ग में—राष्ट्र के अजेय होने में हेतु सुमेधा गुरु का होना तथा ब्रह्मा की तरह अपने कर्म में रत होते हुए भाचारों दिशाओं पर दृष्टि रखना, विद्वानों को जागरूक रहने का एक रुकेत अथवा उचित प्रेरणा है । राजा के बाहुबल के कुण्ठन होने पर भी शत्रु का नाश करने में समर्थ बुद्धि न दूर हो

‘अकुठिता किन्तु रहे हमारी विपक्ष्यसक बुद्धिशक्ति’

इस उक्ति से कवि ने देश की रक्षा का भार विद्वानों पर डाल देता है। इस सग में भारतीय राज्यशासन का शास्त्रीय निरूपण है तथा भुजंगनति एवं दैतनाति का वारतम्य दिखलाते हुए राजनति की अनेकरूपता का समर्थन है।

७ सप्तम सर्ग ने आरंभ में विश्व के प्रत्येक कण एवं क्षण में अशांति के बीज हैं, यह एक यथाथ दृष्टिकोण है। आर्यसरोवर के एक ही जल में चार चिरंतन भाट दिखलाते हुए आर्यभाति के चार बणों की अभि यक्ति रूपक के द्वारा ध्वनित होता है। दरिद्रता के चित्रण के साथ धन से गुणों की उत्तमता में एक शिक्षाप्रद उज्ज्वल भाव प्रकट होता है।

८ अष्टम सग म—

कार्य अद्भुत सृष्टि यह किसने प्रयत्नों ने सँवारी ?
क्या अलक्षित है न कोई विश्वकर्मा शिल्पकारी ?

यह अनुमान से इश्वरसिद्धि करने का प्रकार -याय शास्त्र के अनुसार एक दार्शनिक प्रश्न का समाधान है। माया अविद्या जीव एवं ब्रह्म का संबन्ध में अनेक जटिल प्रश्नों का जो समाधान किया गया है उसमें समस्त वेदा त दर्शन की छाप है।

ये यहा नरसिंह पहले आज नरजबुक् बसे हैं।
देश में आकर तभी तो दुष्ट शूकर कपि धँसे हैं ॥

इस उद्बोधन में देश की कायरता को धिक्कारते हुए पुन भारतीयों का सिद्ध क गुण प्रदण करने का एक राष्ट्रीय सुभाष है।

६ नवम सर्ग में प्रलयकालीन मोहनिद्रा के अन्त में ब्रह्मा के हृदय में परावाणी का स्वयं स्फुरण होना वेदों की अग्नौष्पेयता का एक समर्थन है। साथ ही यहा वैयाकरणों के स्फोटवाद का प्रकरण के साथ समन्वय विद्वत्ता पूर्ण है—

परावाणीमय शब्दप्रज्ञ रज्ञ जो अन्तर में अवबुद्ध ।

प्रयत्ना से वह बनकर वर्यो दुश्चा कण्ठादिक से उद्बुद्ध ॥

पुनः इसी प्रकरण में शब्द एवं अर्थ के अभेद का भी सिद्धांत—

‘गिरा धै’ उस गायन में शुद्ध नहीं गुञ्जित थी भाषा कौन ?’

इस पद्य से अभिव्यक्त किया गया है।

‘हजारों आँखों पर से घोर हटेगा कैसे निद्राभार ?’ ब्रह्मा की इस चिन्ता में एक अत्यन्त गूढ़ ध्वनि है।

१० दशम सर्ग में देवजाति के परलय का कारण तथा उसकी ब्रह्मा के द्वारा उद्बोधन करने में देश के लिए असदिग्ध नीति का मार्ग है तथा युद्ध के अन्त में उसके भयकर परिणाम का चित्रण करके विश्व को युद्ध न करने का भी स्पष्ट संकेत किया गया है।

११ प्यारहवें सर्ग में गणशक्तिस्वरूपिणी भगवती का स्तुति में दार्शनिक भाव अत्यन्त उच्च है।

हे चण्डिके शूल कृपाण धारो ।

हमें सदा पश्चिम से उबारो ॥

इस प्रार्थना में देश के विचार का प्रतिनिधित्व है।

१२ बारहवें सर्ग में देश की एकता के क्षय होने में फलाहीन चन्द्रमा को उपमा ठीक जचती है। क्य और पराजय में केवल शक्ति का प्रचलता कारण है न कि धर्म एवं अधर्म, इस स्पष्टाक्ति में एक प्राति है। गंगा के तट पर यज्ञ का वर्णन करते हुए पार्वतीदल के सगठन म नारीशक्ति का भव्य दर्शन मिलता है। हिमालय की प्रशंसा में—

जीव पापा भी जहा कुछ काल में
साथ लेता है सुगों की सभ्यता ॥

यह पद्य भारतीय सस्कृति की अमरता का द्य तक है।

१३ तेरहवें सर्ग में काली के स्वरूप का चित्रण एवं असुरों के वध का वर्णन श्रोत्रपूर्ण है।

१४ चौदहवें सर्ग में भगवती की स्तुति में—

‘अनंतरतना मुजला सुपुण्या सदाज्ञपूर्णा जय राष्ट्रमाता’

यह मातृभूमि का महत्त्वपूर्ण स्मरण है।

१५ पन्द्रहवें सर्ग में देवी की उपासना की महिमा को बुद्धि से परे पतलाते हुए विश्वास और तर्क पर युक्तियुक्त सनातन विचार व्यक्त किया गया है—

हे बुद्धि तो मानव का अशुद्धा तनो गुणों की वह है विचार।

विकारिणी को कम लक्ष्य होगा जो तत्व है निर्गुण निविकार ॥

१६ सोलहवें सर्ग में प्रीथ्वी धर्मा शरद एव हेमन्त ऋतुओं के वर्णन के साथ सुरभ एवं समाधि की तपस्या का वर्णन तथा साथ ही कालाविध्वंस

दानों से आक्रान्त भारत की दशा के चित्रण करने में कवि की प्रतिभा का परिचय मिलता है। उदाहरण के लिए यह एक पद्य पर्याप्त है—

ग्रीष्म दूर कर पावस आई, मेघ वारि घरसे भरपूर।

राष्ट्र के हृदय का उससे भी हो सका कठिन ताप न दूर ॥

१७ सत्रहवें सर्ग में वसन्त की छटा में भगवती की श्रुति का दर्शन अभूतपूर्व कल्पना का उदाहरण है। राजा एव यति के लक्ष्य भिन्न नहीं हैं इस शास्त्रीय गूढ विषय के निरूपण में ज्ञान और कर्म का व्यावहारिक समन्वय किया गया है—

है विश्व में न रहता कुछ बध-हेतु

है एकमात्र ममता निज-बन्ध-हेतु ॥

१८ अठारहवें सर्ग में सुमेधा के द्वारा देश के संगठन का उपदेश अत्यन्त शिक्षाप्रद है। शत्रुओं के वर्णन एव युद्ध के प्रस्ताव में देश को वीरता का अमर सदेश है।

१९ उन्नीसवें सर्ग में सुसंगठित भारतीयों का फोलाविष्वसियों पर आक्रमण तथा उनको देश से दूर कर देने के वर्णन में देश की संघशक्ति का एक शार्श्वत स्वरूप है। भारत में घुसने वाले विदेशियों के लिए अन्त में यह चेतावनी है—

कोई भारत में मलीन धुन से जो भी घुसे घात से

आयों ने उनको सदा इन दिया है शस्त्रघात से।

आये जो घर अन्व के पर वहीं स्वामी बने हैं अदे

पेठी को रिपुहाक वे हँस रहे सजे यहीं हैं गड़े ॥

२० बीसवें सर्ग में स्वतन्त्र भारत का स्वरूप दिखलाते हुए भारतभूमि की महिमा से परिपूर्ण मधुर राष्ट्रगीत है—

जय विभासित वेदविभाकरे । सतत शोभितशास्त्र मुधाकरे ।
जय सनातन सस्कृति भास्वरे । जननि भारतवर्ष वसुन्धरे ।

२१ इक्कोसवें सर्ग में दुर्गासप्तशती को मार्कण्डेयपुराण का सार एवं श्रायशक्तिजागरण का पाठ बतलाकर काव्य के उपसंहार में कवि इस काव्य का स्वरूप बतलाता है—

यह न केवल काव्य प्रबन्ध है यह न केवल शक्तिनिबन्ध है ।
यह न केवल वीरचरित्र है अचिर भारत का यह चित्र है ॥
यह न पश्चिम का अचिवाद है विपल शुष्क यहा न विवाद है ।
भगवती यह आशुतशक्ति का अभयपूरित शखनिनाद है ॥

अन्त में कवि अपनी कामना व्यक्त करते हुए देश को शक्तिशाली देश देता है—

नृपति मुरथ जैसे वीर हो स्वाभिमानी
प्रबल रिपुदलो को शक्ति से जो भगा दें ।
गुरु चतुर मुमेधा हो जनभ्रान्तिहारी
कठिन समय में जो देशनिद्रा जगा दें ॥

इस काव्य में द्रुतविलम्बित, हृद्रवज्रा, वंशस्थ, घमन्ततितक, मालिनी स्वागता, शार्दूलविक्रादित आदि संस्कृत छन्दों के अतिरिक्त रोला गीतिका आदि हिन्दी के छन्दों को भी स्थान दिया गया है ।

शक्तिशैलनाद के प्रथम प्रकाशन में यहाँ काव्य के विषय में दिग्दर्शन मात्र विचार मिया है। इसने द्वितीय प्रकाशन में जो कि परम निस्पृह तपस्वी प० श्री गामत्र स्वरूपजी महाराज एवम् अन्य दधिमयी भगवती के भक्तजनो के द्वारा शं भ ही कराया जाने वाला है उसमें समुचित विचार प्रस्तुत किया जायगा। इस प्रथम प्रकाशन में जो कुछ सहयोग मेंने दिया है उसकी सफलता का भेय श्री स्वामी विवेकनाथ जी महाराज को है जिनकी कृपा से इस राष्ट्रभक्तिपूर्ण शक्तिकाव्य का प्रकाशन सम्पन्न हो सका है।

चण्डीप्रसाद शर्मा

व्याकरण साहित्य दर्शनाचार्य

श्री गंगासंस्कृत विद्यालय

बीकानेर



* श्री १०८ पृथ्वीपाठ स्वामी विवेकनाथ जी *

यम नियम समाहितै शान्ते शिष्यपदमारुहन्तुभिर्योगिभृन्दैरप्यभिनन्दित-
योगसिद्धीना मरुधराधीश्वरैरन्यैश्च धार्मिकजनैरचितचरणाना चचिताखिल-
शास्त्राणा ब्रह्मज्ञानोज्ज्वलान्त करुणाना श्रीनवलनाथयोगाचार्याणा प्रशिष्यैस्तथा
विदित वेद वेदाङ्गनिगूढतत्वाना निगमामानुजूल निज प्रौढ तर्क निरस्तसमस्त-
नास्तिकतर्काणा श्रीमताम् उत्तमनाथ योगिवराणा विद्वद्वराणा शिष्यवरै
समुद्भासित श्रीतस्मात्तं विवेकभातएद्वैविद्वत्प्रकाण्डै सस्कृत भारतीय सस्कृति
सरञ्जणत्परै मान्यवरै श्रीविवेकनाथ योगेश्वरै करुणापूर्णोऽर्थवित्तीयं

शुभाशीर्वादः

सरस्वतीश्रुतिमहती महीयताम्

अनेक शास्त्रीय समुज्ज्वल भाषों से परिपूर्ण यह “शक्तिशब्दनाद”
महाकाव्य राष्ट्र की चेठना को जागृत करने हुए साहित्यजगत में समान
प्राप्तकर सदैव गुञ्जित होता रहे तथा समस्त अभव्य संस्कारों को दूर
कर देने वाली इसकी मङ्गलमयी ध्वनि अभय शिष्यधाम भारतवर्ष में
शाश्वती राष्ट्रशक्ति का सतत अभ्युदय करती रहे, यही इस महाकाव्य
के लिए शुभाशीर्वाद एवम् परब्रह्मस्वरूपिणी पराशक्ति से हमारी
प्रार्थना है।

भारताभ्युदयकाङ्क्षी

विवेकनाथः

श्री
महाकाव्य
शक्तिशंखनाद

प्रथम सर्ग

शिव समाहित आहितशक्ति का
मुखद शाश्वत जो मुखधाम है ।
शरण एक वही भव तप्त का
अभय भारत देश ललाम है ॥ १ ॥

रघुरणायित है जय हो चला
मथ अशान्त असंस्कृत नाद से ।
कर अन्निद्र रही शिवभूमि को
भगवती तब शंखनिनाद से ॥ २ ॥

मुन रहा यह दीन दिगम्ब है
कुटिल दानवता विकराल से ।
सरस एक यही शिव देश है
कुद्ध पुरातन पुण्य विशाल से ॥ ३ ॥

प्रसित होकर कान पिशाच से
 मर रही यह मूर्च्छित सृष्टि है।
 कुशल एक यती इस विश्व में
 अडिग भारत की शिष्य-सृष्टि है ॥ ४ ॥

सड़ रहे जड़ संमृति-गते में
 प्रकृति के वश निष्फल देह हैं।
 मफला केवल भारत-दर्प में
 चिर-सुगन्धित-कीर्ति विदेह हैं ॥ ५ ॥

रच इसी शिष्य भूतल भव्य को
 चतुरता विधि की घृतघृत्य है।
 यह नहीं अतएव विचारती
 "यह चराचर-सर्ग अनित्य है" ॥ ६ ॥

हृदय में रुचती जगदीश के
 यह तपोमय भूमि पवित्र है।
 मुदित आकर के करता यहा
 इसलिए यह चाठ चरित्र है ॥ ७ ॥

सतत धर्म सनातन का जहाँ
 अचल नीति अरुण्डित राज्य है।
 यह सफ़ानन-सागर भूधरा
 विदित धार्यधरा अविभाज्य है ॥ ८ ॥

निगम संस्कृत मानव-जन्म को
स्थिर जहाँ मिलता थपवर्ग है।
मुलम हो चलता श्रुति मन्त्र से
धरण योग्य सनातन भर्ग है ॥ ६ ॥

दुरित के दल को दलते जहाँ
विमल तीर्थ समागम सन्त है।
धरण के कण मे कण मे भरा
अनघ जीवन शांति अनन्त है ॥ १० ॥

निज तथा पर मे परमेश का
शुभ जहाँ समदर्शन एक है।
भ्रम निरतक भेद प्रियत का
विमल तत्त्व प्रिचार-प्रिवेक है ॥ ११ ॥

भगवती अतिरोहित हो जहाँ
भुवन का करती उपकार है।
हर सदा हरते भयभीत का
विषम भी विष-मोह विकार हैं ॥ १२ ॥

नृप भगीरथ की लिपती हुई
घबल कीर्ति तरंग तरंग में।
अमरसिन्धु जहाँ हिमशैल से
बह रही मिल सागर-संग मे ॥ १३ ॥

श्रुवुध धर्मन भी निस देश का
सह नहीं सकता अपमानता ।
यह नहीं हटवा ध्रुव लक्ष्य से
कठिन भी करना तप जानता ॥ १४ ॥

प्रथित उत्तरभू अति दर्शना
सुत जहाँ जनती यजमान है ।
विचरता जिनका ऋषि-पंक्ति में
अमर-पूजित दिव्य विमान है ॥ १५ ॥

पति-समीप अभीत चिताग्नि में
परत सत्य सतीत्व जहाँ सती ।
चमकती चिर है पति-सोऋ में
अमल-सी जन-वन्द्य अरुन्धती ॥ १६ ॥

शरण में मुनि कुम्भज के जहाँ
बिनात विन्ध्य हुआ गिरि सामने ।
रहित कानन राक्षस-वंश से
कर दिया पुरुषोत्तम राम ने ॥ १७ ॥

प्रकृति-भुग्ध जहाँ ब्रज-गोप का
षट्क है रमता वर वेणु से ।
प्रबल भी प्रतिमल्ल पछाड़ता
सबल होकर गो-पद रेणु से ॥ १८ ॥

मिट गया भ्रम अजुन का जहाँ
 मुन अकर्म-कथा कुरु युद्ध मे ।
 जनित-जन्म-जरादि अनादि भी
 चणिक मान हुआ भय बुद्ध में ॥ १९ ॥

मनुज-मोहन मोहनदास को
 प्रिय जहाँ सब धर्म अभिन्न हैं ।
 विविध भी यदि धेनुसमूह से
 निकलता न कहीं पय भिन्न है ॥ २० ॥

अभिमत श्रुति दर्शन दीप से
 जन जहाँ सन उज्ज्वल हो चले ।
 स्फुरित नास्तिक तर्क यितर्क के
 फुमत चूर हुए सब खोजले ॥ २१ ॥

फलित गौरव से जिस देश में
 विजयिनी जन-शुक्ति अजेय है ।
 मुख नहीं रण ममुख मोढ़ता
 सुयश एक वही कवि गेय है ॥ २२ ॥

कुलज रत्न जहाँ घट पीर का
 अहित भी शरणागत रक्ष्य है ।
 श्रुतिनिधान जहाँ शुभ यह है
 अखिल-रुमि लिये निज लक्ष्य है ॥ २३ ॥

पतित पुञ्ज असरय समा गये
 यस जहा जनपावन हिन्दु मे।
 रस नहीं सकते निज नाम भी
 नद ममाकर विस्तृत सिन्धु मे ॥ २४ ॥

नियम से ऋतुएँ सब आ जहाँ
 प्रकृति की घनतीं अनुगामिनी।
 जन-मनो रुचि दानदयावती
 नियत आर्य पुरा पथ-गामिनी ॥ २५ ॥

मुनि महर्षि सुरर्षि नृपति का
 भवन भारतराज्य चिरायु है।
 युग मलीन चले बदले कई
 बदलता न यहाँ जल पायु है ॥ २६ ॥

अपरिघतनशील अनादि से
 यह चिरन्तन आय निवास है।
 अमित-गौरव पूर्ण अतीत की
 स्मृति लिए इसका इतिहास है ॥ २७ ॥

अजर है यह संस्कृति भारती
 चिर-परीक्षित हंस विवेक से।
 भिट नहीं सकती धक-धर्ग के
 कपट कोटि-कृचक अनेक से ॥ २८ ॥

जन् यद्वा अरिज य विपत्तियों
 न टलतीं नृप मदकृपाण से ।
 तत्र सुरक्षित हैं रयते इसे
 कवि अकृण्ठित काव्य पुराण से ॥ २६ ॥

उचित थासन वेद्वरिष्ठ को
 अपनिशासन बाहुबलिष्ठ को ।
 धन महाजन उद्यमनिष्ठ को
 गुण दिए जिसने श्रमनिष्ठ को ॥ ३० ॥

अहह ! भूल रहे उस देश को
 जटित क्यों इन दानवजाल से ।
 यह विचार हुई मन की दशा
 व्यथित लज्जित सी नत भाल से ॥ ३१ ॥

पठित सप्तशतीस्तव ने पुन
 यह समुज्वल भाग जगा दिया ।
 “कच नहीं इन भारतशक्ति ने
 धमुरभार अपार भगा दिया ?” ॥ ३२ ॥

इस चिरायुष शक्ति रहस्य से
 मति हुई निज शक्ति विचारिणी ।
 रच रही यह भारतलेखनी
 रचित राष्ट्र-सुपुत्रि निवारिणी ॥ ३३ ॥

विनय से भुत वैभव दान से
 शरद से नम यारिज हंस से ।
 भुवन भूषित है रहता कभी
 अरिजल भूतल के अद्यतंस से ॥ ३४ ॥

वह कभी इस भारतवर्ष में
 "सुरय" विश्रुत भूप हुआ बली ।
 समर में जिसके रथ शब्द से
 सभय थी छिपती अरिमण्डली ॥ ३५ ॥

अतुल उज्ज्वल भी नृप क्षेत्र का
 कुल अमूल्य हुआ उस रत्न से ।
 अमिट भारत का हतभाग्य भी
 मिट गया जिसके शुभ यत्न से ॥ ३६ ॥

चिर-कथा उस अद्भुतकीर्ति की
 कह रहा "सुरहा" यह ताल है ।
 सगर निर्मित सागर-सा अभी
 अतिपुरातन भी सुविशाल है ॥ ३७ ॥

मलित थी उसके भुज्जदण्ड में
 प्रबलता धरणीधर शेष की ।
 मिलित थी मुत्तमण्डल में सदा
 अचिररतानुति बाल दिनेश की ॥ ३८ ॥

अनिल की क्षमता क्षिति की क्षमा
अचल की गरिमा अतिधीरता ।
निहित थी उस मानवसिंह में
वदधि की अप्रिलम्ब्य गभीरता ॥ ३६ ॥

सतत था रहता उस भूप के
शिव दयामय शान्त विमर्श में ।
प्रकट था प्रलयद्वार भी कभी
कुपित भीषण रुद्र अमर्ष में ॥ ४० ॥

घरुण शक्र-यमाग्नि-कुवेर की
अमित थी उममे महिमा लसी ।
यह कलानिधि फान्ति-कलाप से
षदित सर्व-जग प्रिय था शशी ॥ ४१ ॥

यह महामत्त दीक्षित दक्ष भी
निरत था रहता मनु नीति में ।
पर भरी चतुरानन की गद्दी
चतुरता उस विश्वविभूति में ॥ ४२ ॥

अतिसमृद्ध सदा धन धान्य से
सुरथ का यह भारत था भण ।
वसुमती यह भूमि सुवर्ण की
षिदित थी वसुपूर्ण वसुन्धरा ॥ ४६ ॥

पुरुष थे सुचरित्र कुचमती
 सद्य महेन्द्रर मान्य महामति ।
 युगतियों सब की सद्य थीं यहाँ
 गुणवती यतिरूपवती सती ॥ ४४ ॥

विभव का न कहीं पर गर्व था
 परसमुन्नति मे न विषाद था ।
 गहनतत्र सुनिर्णय हेतु ही
 सुखद केवल शास्त्रविवाद था ॥ ४५ ॥

ऋषि विराजित थे वन मध्य मे
 उटज ही उनके गुरुधाम थे ।
 हवन गन्ध सुगन्धित वायु में
 बहते वहाँ वनते गुणधाम थे ॥ ४६ ॥

श्रवण उर्वर थी कर अल्प था
 भवन थे सब गोकुल से भरे ।
 फलित पुष्पित धानन थे सदा
 अमरकानन की उपमा धरे ॥ ४७ ॥

घवल-सौध-महापथ से सजे
 पुर विशाल सुशोभित भव्य थे
 वसन भूषण सज्जित देव से
 नर यहाँ बसते अतिसभ्य थे ॥ ४८ ॥

कुशल काव्य कला-चर शिल्प मे
 नर समग्र सुशिक्षित दान्त थे ।
 सुभट थे अतिधीर रणाग्रणी
 पर सदा रहते अतिशान्त थे ॥ ४६ ॥

अतिथिपूजन वन्दन दान मे
 अशन पान तथा परिधान मे ।
 निज सनातन रीति सुनीति थी
 पठन शिक्षण राज्यविधान मे ॥ ५० ॥

अकटु वाक्य विभूषित सत्य से
 हृदय दूर सदा छल घात से ।
 प्रसर थी पटुता व्यग्रहार मे
 पर अदूषित नैतिकपात से ॥ ५१ ॥

अतिविशाल जलाशय घाटिका
 सुरनिकेतन सुन्दर थे घने ।
 स्मरण अर्चन कीर्तन थे जहाँ
 रुचिर भक्तिसुधारस मे सने ॥ ५२ ॥

सुमन वन्दन धूप सुगन्ध से
 हत यहाँ सब भौतिक वाप थे ।
 दरिद्र्या चरणामृत-पान से
 विगत मानस दुःख-क्लृप २ ॥ ५३ ॥

पटह-शंखरव-भ्रुतिघोष से
 अशुभ दैविक था भय भागता ।
 स्रितिज को रखते मत्त शुद्ध ये
 प्रकृतिकोप कदापि न जागता ॥ ५४ ॥

इस अलौकिक आत्मविकाश का
 यह सुधार्मिक शासन मूल था ।
 यह सनातनभारत आसुरी-
 प्रकृति के न कभी अनुकूल था ॥ ५५ ॥

सहज आस्तिक मानवभाव मे
 कुमत्त को न कहीं अवकाश था ।
 अतिसभीत सदा नृपतेज से
 न करता जन में तम वास था ॥ ५६ ॥

कृपण केवल थीं मधुमक्खियों
 मधुप ही रत्न ये मधुपान में ।
 हरिण ही उम उत्तम राज्य के
 विषरा सुग्ध रहे कुल्ल गान में ॥ ५७ ॥

कपट दाम्भिकता बकजाति मे
 कुलविरोध रहा गृहपाल में ।
 कुटिल थे अहि, चञ्चल अदृश ही
 निहित था भय भीरु शृगाल मे ॥ ५८ ॥

प्रथम केवल थी कपिजाति में
 उचित कर्म विना फलकामना ।
 घृणित घायसजीवन ही रहा
 अशुचि केवल संशय से सना ॥ ५६ ॥

तब विपल्लव शून्य बनान्त में
 अधिक रक्त अशोक पलाश थे ।
 पर विपल्लव शून्य अशोक भी
 नर कदापि न रक्तपलाश थे ॥ ६० ॥

मुजग-भूषित भोगवती कहीं
 धमर-सेवित थी अमरावती ।
 पर सदा इस भारत वृष की
 रुचि धलुब्ध रही उनके प्रति ॥ ६१ ॥

यह जले सुखभोग स्वरान्य भी
 यदि यहाँ निज पुण्य विनाश हो ।
 यह मला किसको रुचती सुधा
 विषयराग जहाँ टढ पाश हो ॥ ६२ ॥

जिस विशुद्ध महीतल में भरे
 मुलभ सदगुण सौख्य अपार हों ।
 निहित मानव के लपकार में
 नृपति धार्मिक का अधिकार हो ॥ ६३ ॥

अपदलुब्ध धरापति हो जहाँ
हित करे सबका जन-मन्त्र से।
सुखित देश नहीं करता घृणा
तब कभी अपने नृपतन्त्र से ॥ ६४ ॥

यदि नहीं नृपशासनचक्र के
वृषित तस्कर हैं धन लूटते।
तड़पती न बुभुक्षित है प्रजा
उस न शासन से उन रूठते ॥ ६५ ॥

रहितपक्ष सपक्ष विपक्ष से
उचित निर्णय हो नयमार्ग से।
निज कुलोचितकर्म रत प्रजा
तब नहीं टलती निजमार्ग से ॥ ६६ ॥

हो राज्य राज्यपति-मध्य अभिन्नता सी
होवें नहीं सुखित क्यों तब देशवासी ?
क्यों योग्य भूमिपति को नरमात्र जानें
क्यों लोम्पाल उसको सुर वे न मानें ? ॥ ६७ ॥

सुरभित सुमनों मे कुञ्ज मे काननों में
पुलकित पवनों मे कन्दरों मे घरों मे।
अतुलित उस राजा की शरच्चन्द्रशुभ्रा
दिन दिन रुहराती कीति थी सागरों मे ॥ ६८ ॥

कोलाविध्वंसियों का दल दलित किया राष्ट्र सारा जगाया
 श्लेच्छों से प्रस्त होते जिस नरपति ने देश को है बँचाया ।
 ऐसा सत्कीर्तिशाली वह सुरथ महाशक्ति का है पुजारी
 श्रीमार्कण्डेय ने है यह चरित लिग्ग्य आर्ष आदर्शधारी ॥ ६६ ॥



द्वितीय सर्ग

सुदूर ही भारत पुण्यभूमि से
अकोलविध्वंसका दस्युवंश था ।
वसा हुआ पर्वतदुर्ग देश में
अनार्यता का यह एक अश था ॥ १ ॥

अनादि से ही उस दस्युजाति के
कुमाल में रेखित थी अभव्यता ।
मनुष्य के म्लेच्छ कभी कुनन्म से
मिटी कही निर्दयता असभ्यता ॥ २ ॥

त्रिलोक के सञ्चित पाप पुख से
विरिञ्चि ने या उनको रचा कहीं ।
निवास पाती अथवा मनुष्यता
कुजातियों के कुल में कभी नहीं ॥ ३ ॥

शरीर से भी उनके समीप में
कुगन्ध आती रहती रजभाव से ।
अशुद्ध ये भाजन वे भरे हुए
अधर्म के उम कहीं कुभाव से ॥ ४ ॥

बिडाल की तस्कर कर्म दक्षता
प्रगल्भता में धृक की सकक्षता ।
रही खरों की उनमे अदान्तता
अशून्य थी वानर की अशान्तता ॥ ५ ॥

रहे मदनोन्मत्त महापराह-से
अदूर थे दुर्गुण के प्रवाह से ।
अगम्य भी वे गिरिदुर्ग शोधते
अभेद्य भी ये चल लक्ष्य वेधते ॥ ६ ॥

प्रसन्नता थी मृगयाप्रिहार में
प्रवीणता अन्यधनापहार में ।
कुमार्गचारी उस नीच वंश की
प्रवृत्ति थी नित्य परापकार में ॥ ७ ॥

कुदेवपूजा बलि के विधान से
कृतार्थ थे केवल मद्यपान से ।
मृगादि ही जीवन के सुप्रस्तु थे
रजादि भी दैनिक ग्राह्य धरतु थे ॥ ८ ॥

रहे किये मन्त्र मासराशि का
घरोघरों में, पशुचर्म धे भरे ।
तथापि गूनागूद के कभी वहाँ
न सूखते आंगन रात से हरे ॥ ६ ॥

सहाय थे श्वान सम्यु गीध थे
गधे सदा से उनके सुदास थे ।
मृगशाप के गोर पिशाच-दुल्य वे
कुदेश में ही करते त्रिगाम थे ॥ १० ॥

वधार्थ वे यत्रपि जीव पालते
अल्पत तो भी जल द्याग डालते ।
जला चिता जीवित जन्तु बालते
घड़ों बसा थे उनसे निकालते ॥ ११ ॥

बदा न था दूषित अन्तरिक्ष ही
अपेय पानीय अमेध्य ही धरा ।
दिशामुल व्याकुल पूतिगन्ध से
पहाड़ भी था उस भार से डरा ॥ १२ ॥

न एक भी था स्थल दीरता जहाँ
न भूमि हो आवृत अस्थिरण्ड से ।
तथापि थे वे सुख से जहाँ उसे
अरण्यचारी महिष प्रचण्ड से ॥ १३ ॥

पिशाचिनी सी मधुपान-संगिनी
 कुनारियों थीं उनकी कुटुम्बिनी ।
 मदान्य सी वे कलिरूप डोलतीं
 कुटुम्बियों को कटु शब्द बोलतीं ॥ १४ ॥

रंने हुए कंचुक नीलरग मे
 समग्र थे दुर्गण अग अग मे ।
 महामलीना मतिहीन कर्नशा
 रहीं लगाती मुग्ध केश में बसा ॥ १५ ॥

हुई नहीं दूर दरिद्रता कभी
 अशान्त पापी उनके समाज से ।
 मिला किसे है सुख धर्म के बिना
 फुटत्य से वैतव से कुराज से ॥ १६ ॥

न सत्य सत्कर्म परात्मभान का
 प्रकाश कोई उनमे कभी रहा ।
 मलीनता-दूषित चित्तवृत्ति मे
 विचार का अकुरजन्म हो कहा ॥ १७ ॥

निसर्ग से वे रिपु आर्यदेश के
 विरोध मे ही रहते रहे सदा ।
 कुचिन्त मे थी उनके जुभी हुई
 सनातनी भारत भाय-संपदा ॥ १८ ॥

कभी कभी आकर आर्यदेश में
प्रवेश का भी करते प्रयास थे ।
परन्तु हो ताड़ित राजदण्ड से
चले गये तस्कर वे निराश थे ॥ १६ ॥

विचार देगा जत्र नीचवंश ने
अजेय है भारत युद्ध रीति से ।
अन्नाध्य भी निदिचत अर्थ सिद्धि को
मुन्नाध्य माना तव कूटनीति से ॥ २० ॥

लगे लुभाने उस मन्त्रिर्वा को
सुगूढ थे जो रिपु भारतेश के ।
कुम्भन्त्र से यन्त्रित वे अमात्य भी
विनाश में लग्न हुए स्वदेश के ॥ २१ ॥

अतुष्ट पृथ्वीपति से अलक्ष्य वे
विरक्ति भारी मन में लिए रहे ।
ममत्त में अद्भुत राजभक्ति का
बनावटी नाटक सा किये रहे ॥ २२ ॥

अभक्त हों जो निज जन्मभूमि के
जिन्हें नहीं अप्रिय शत्रु-पक्ष हो ।
अवश्य वे ही कुल के कुठार हैं
स्वदेशरक्षा जिनका न लक्ष्य हो ॥ २३ ॥

रुदापि तो सभय है न विदय मे
समान हो सन्तति एव मूल से ।
न एक ही क्या तरु का शरीर है
विचित्र ना अन्ति पुष्प शूल से ॥ २४ ॥

रहे कहीं भी गुण दोष के धिना
नहीं लिगा है विधि के निधान मे ।
रचा नहीं तो निम्न लाभ के लिए
कलंक भी एक कलानिधान मे ॥ २५ ॥

स्वभाव मे ही अवया मनुष्य की
विचित्र होती कुछ चित्तवृत्ति है ।
न चाहता पार्वणचन्द्र भासिनी
निशा कभी तस्कर पापवृत्ति है ॥ २६ ॥

मिलाप होना गल दस्युजाति से
द्विजाति का केवल दुःखमूल है ।
स्वव्रता-संस्मृति धर्म-वर्ग का
विनाश होता जिससे समूल है ॥ २७ ॥

न धर्म से शासित देश मे कभी
प्रसन्न होते गल राज भृत्य है ।
अधर्म के शासन-अन्वयार मे
अनेक होते जिनके कुट्टय है ॥ २८ ॥

शुभृत्य को दक्षिणत लाभ हो वह।
 जहा प्रतासंमत भूप राज्य है।
 गुगुन नात्रस्थित धाय को कभी
 न मृन्ना मूपन गति साध्य है ॥ २६ ॥

शुभृत्य तो हैं मन मे विचारते
 प्रनीति का द्वार सदा खुला रहे।
 प्रजाहितैषी नृप का न राज्य ही
 प्रशान्ति ही सतत देश मे रहे ॥ ३० ॥

विपक्ष के साथ कहीं परोक्ष मे
 यही कुमन्त्री करते कुमन्त्रणा।
 “उपाय है केवल अर्थलाभ का
 रहे न कोई नृप की नियन्त्रणा ॥ ३१ ॥

प्रवृत्त थे जो इस पापवृत्य में
 प्रधान थे वे सब उच्च धरा के।
 स्वयं ही कारण हैं दनाग्नि मे
 विनाशकारी निज वेणुधंश के ॥ ३२ ॥

स्वपक्ष का ही भय राजपक्ष के
 विघात का निश्चित एक हेतु है।
 म्यचक्र का घोर कुचक्र राष्ट्र के
 विनाश का सूचक धूमहेतु है ॥ ३३ ॥

कुमन्त्र से प्रेरित राक्षस्युक्तो
 मिले उसी भीषण वातचक्र में
 अस्तार होते पर उद्युक्त है सदा
 अनेक जैसे तृण वातचक्र में ॥ ३४ ॥

कहाँ घुसतार भरी अनार्यता
 कहा महा उच्छ्रित आर्य संसृति ।
 कुलीन भी आत्मनिवेक रो चले
 दुसंग में केवल है अधोगति ॥ ३५ ॥

अनार्य सेवा द्विज का न कर्म है
 नहीं रुभी लोलुपचित्त वृक्ते ।
 जलानुगाभी निरधर्महीन को
 अनार्य है कार्य समान सुक्ते ॥ ३६ ॥

महाछली यद्यपि दस्तुमण्डली
 प्रहार के लग्न रही प्रयास में ।
 न योग द्रेते यदि भागीय ही
 अर्कभी न आती वह द्यार्यथास में ॥ ३७ ॥

परतु सामन्त समूह भूप का
 प्रधान आलम्बन जो अमित्र था ।
 रही प्रजा-तो नृप शक्ति-निर्भरा
 अनर्थ न हेतु यही निश्चिन्ना था ॥ ३८ ॥

कुभृत्य-मन्त्री रिपु-वर्ग मे द्विपा
 अतीत से दूषित जो विचार था ।
 यही त्रिदोषग्र-तुल्य राष्ट्र के
 शरीर मे घोर भरा विकार था ॥ ३६ ॥

अनभ्र से उत्कट वज्रपात मा
 अवात से ही तर के निपात सा ।
 अकाण्ड में ही अभियान शत्रु का
 सवेग आगम्भ हुआ प्रयात सा ॥ ४० ॥

समग्र सेना प्रतिरोध उग्र भी
 निरोधकारी रिपु का न हो सका ।
 न देश के रक्षण मे अशक्त हो
 नरेन्द्र भी आत्मकलंक धो सका ॥ ४१ ॥

स्वपक्ष की संमति शत्रुपक्ष में
 सदा रही वाधन युद्ध जीत की ।
 महायत्नी रायण के सुबन्धु की
 कथा किसे विस्मृत है अतीत की ॥ ४२ ॥

अनल्प भूमण्डल अल्प युद्ध से
 गया चला दूषित दस्यु हस्त मे ।
 हुई अभिव्यक्त अकीर्तिकारिणी
 अयोग्यता भूपति की समस्त में ॥ ४३ ॥

प्रधान कोपाधिप त्रित्तलोभ से
 फुचकनारी दल में मिला वहाँ ।
 अकोप था दुर्गल राजपक्ष तो
 उसे जयश्री मिलती भला कहाँ ? ॥ ४४ ॥

निदेशकारी नृप-भृत्य भी भले
 स्वजीविकार्थी अरि-भृत्य हो चले ।
 जघन्य आजीवन भृत्यकर्म है
 कुलीन को भी उरता विधर्म है ॥ ४५ ॥

लगे उसी का करने अनिष्ट वे
 रहे सदा से जिस देश में पले ।
 मलीन ऐसे अरि-दास भृत्य से
 कुजन्तु भी कुक्कुर हैं कहीं भले ॥ ४६ ॥

दृढता से निजमन्त्रिवर्ग की
 हुई यहाँ यद्यपि देशधर्पणा ।
 फुलाभिमानि नृप के विचार में
 तथापि उत्पन्न हुई अमर्पणा ॥ ४७ ॥

स्वदेश में शासन अन्यदेश का
 अबोध के भी मन को असह्य है ।
 स्वतन्त्र चाहे तग दुःख में रहे
 उसे नहीं पहचर किन्तु सह्य है ॥ ४८ ॥

त्रिण अनेकों नृप ने उपाय भी
हुआ नहीं रोध विपत्तिपात का ।
सहाय रस्ती जब भंग हो चुकी
निरोध हो क्यों नटरूपपात का ॥ ४६ ॥

विशेष वे चिन्तित शत्रु दस्त्यु भी
दरे गुण भारत के नरेश से ।
“कहीं रत्ना चीरित राज सिंह तो
समाप्त होंगे हम आर्यदेश से” ॥ ५० ॥

अनार्य वैरी उस दस्त्युर्ग का
विचार विज्ञात हुआ नृपाल को ।
सुनीति के दर्पण में विचेरु से
लम्बा स्वयं निश्चित दृश काल को ॥ ५१ ॥

समर्थ है भारत किन्तु राज्य के
विधान में दूषण निश्चयमान है ।
स्वदोष का ही परिणाम दुःख है
बुध्ध्य ही तो विप के समान है ॥ ५२ ॥

अशक्य है सम्प्रति शत्रुवेग को
निवारना पौरुष बुद्धि योग से ।
निरोध होती न कदापि नियुगा
अधोमुखी साहस के प्रयोग से ॥ ५३ ॥

कहा गया है अपयान युद्ध से
अकीर्तिकारी यदे काम वीर का ।
स्वकार्ये सिध्यर्थे अदृश्यनास भी
तथापि है संमत मार्ग धीर का ॥ ५४ ॥

किया महाना मृगयाविहार का
चला अनेला हय से निशान्त मे ।
निपत्ति मे वन्धु निजाभिमान है
मनुष्य का रक्षक एक अन्त मे ॥ ५५ ॥

तनुप्रकाशी विधु कृष्णपक्ष का
प्रभात मे श्रीहत अस्त हो चला ।
अशक्त सा भूपति मुक्त भाग्य से
अतीन का संचित गर्व खो चला ॥ ५६ ॥

उतारने दूभर भार सा लगी
निशा स्वयं ही उडु भूपणागली ।
छिपी वही जा पति के त्रियोग में
पतिव्रता सी वृशदेह हो चली ॥ ५७ ॥

कुमुदती भी अनुरक्त सी प्रजा
अनाथ उद्विग्न सभीत हो चली ।
निजानुरागी नृप चन्द्र के बिना
विपत्तिमग्ना सुर मँद सो चली ॥ ५८ ॥

सरीस ही मृदर जगत् में
 संगे श्रीस जगत् प्रसाद में ।
 श्रमाप में ही जगत् तीक्ष्ण है
 प्रसन्न ही जगत् पर दुःखता में ॥ ५० ॥

सुखभु मा श्रार शरिणात प
 सरीस म सुत्रिण भुग में कदा ।
 प्रसन्न ही जगत् पर दुःख-रान न
 श्रम का शरणा पर है महा ॥ ५० ॥

धरे सुद्धे कयो तिव भूतिप है
 अतित्य है योपत रूप मग्गदा ।
 कर्ता तनी है शणभगि विद्व मे
 विलाप संगाप वियोग आपदा ॥ ५१ ॥

सरोप हुकार दिया जपोत मे
 ममप्र मिथ्या भनमाप्र भोग है ।
 न जीव को है स्थिर सौख्य-योग ही
 अक्षय होना शण में वियोग है ॥ ५२ ॥

शृणाप्र मे देर दिमाश्रु विदु को
 न ही मका निणय भूप से यहाँ ।
 कहीं कदो पीड़ित आर्यभूमि के
 गिरा हगों से यह रात के कहीं ? ॥ ५३ ॥

वनान्त में भाग चले कुरंग भी
इसीलिए भूपति से दरे हुए।
अनेक हिंसा छल के कुभाव हैं
मनुष्य के मानस में भरे हुए ॥ ६४ ॥

अशेष बत्सारण चन्द्र के नहीं
हुआ करों से जिम अन्धकार का।
किया उसे दूर दिनेश-दृष्टि ने
प्रताप है मूल नृपाधिकार का ॥ ६५ ॥

प्रभात की पुष्पसुगन्ध ला सकी
नृपाल के मानस में न भिन्नता।
अमर्ष विद्वोभित वीर चित्त को
नहीं लुभाती प्रकृतिप्रमन्नता ॥ ६६ ॥

अशान्त बोले रग, भीत मन्द सी
वही हवा, कम्पित हो चली लता।
हुआ नहीं विस्मय किन्तु भूप को
“कहीं मनस्वी भय है न मानता ॥ ६७ ॥

स्यदुर्गविर्ध्यसक नागवृन्द के
वधार्थ उद्दीप्त मृगेन्द्रनाद से।
मिली उसे पूर्ण सहानुभूति सी
ममान जो दुःखित था प्रमाद से ॥ ६८ ॥

तृतीय सर्ग

रवि म्नाक चला धरणी को
रमणीय अरुण अरु से।
मुल नितर चला प्राची का
उस, भाल तिलक सुन्दर से ॥ १ ॥

अभिराम उदित दिनमणि से
मण्डित लस भाग उषा का।
अवलुप्त हुग्रा जगती से
॥ ' तम संचित गर्भ निशा का ॥ २ ॥

लस किन्तु लिया भारत में
भरते जब दस्यु कुचाली।
अनुताप-सहित दिनकर ने
अविलम्ब तजी निज लाली ॥ ३ ॥

भर भरकर मृदुल करों में
मधुरातप अमित सुधा को।
अभिषिक्त लगा करने सा
यह आर्यजननि वसुधा को ॥ ४ ॥

कुसुमान्वित पत्र-करो से
पूजनकर त्रिदश-पिता का।
आलोक मुकुल नयनों से
तह निरस्य चले सपिता का ॥ ५ ॥

क्रम क्रम से सूर अकेला
शूरो में शौर्य जगाते।
घट चला अगम नभ पर भी
अपना अधिकार जमाते ॥ ६ ॥

जगती-पति देव सुरथ भी
स्थित एक रहा उन पथ में।
पथ दर्शक मित्र जगत का
जय हृदय हुआ रवि रथ में ॥ ७ ॥

साञ्जलि उन्दन कर उसने
सपिता को सीस नवाया।
जय मंगल मूल विनय से
स्तन मूर्य हृदय यह गाया ॥ ८ ॥

जय सहस्राशु तिमिरारे ।
 जय विद्वन्नु करणाकर ।
 स्योतिगण-नाथ त्रिाध्वन्
 जय दिन-मणि भानु दिनाकर । ॥ ६ ॥

तू जगत्-कर्म साक्षी है
 तू सुखा कर्म फल दाता ।
 तू मोक्ष तिमिर नाशक है
 सब के घट घट का ज्ञाता ॥ १० ॥

पर दिव्य तेज को तेरे
 जो ध्यान नित्य करता है ।
 कल्याण-मार्ग पर उमकी
 मति तू प्रेरित करता है ॥ ११ ॥

तेरी किरणें पृथिवी पर
 वर गारि वृष्टि करती है ।
 जीवन देकर जीवों के
 सन्ताप सदा हरती हैं ॥ १२ ॥

ध्याकर इस शान्त जगत में
 जो जाड्य अधिक करता है ।
 उस दानव शीत-समय का
 तू दर्प सकल हरता है ॥ १३ ॥

जब घोर निशा माया-सी
 तम से मोहित है करती।
 तब दिव्य ज्योति तेरी है
 आलोक विश्व में भरती ॥ १४ ॥

प्रामातृक पुण्य-ममय में
 कृतकृत्य तुम्हारे कर हैं।
 निज कृत्य निरत जन पाते
 चिनमे जागृति का वर हैं ॥ १५ ॥

द अव्यं समय पर तुम्हारे
 द्विज पाप मरल होते हैं।
 जप मन्त्र परम रति। तेरा
 जन शुद्ध हृदय होते हैं ॥ १६ ॥

निर्मान मोह मानस में
 तू ज्ञान रूप रहता है।
 टुलित निज भक्त जनों का
 तू दुःख अतिल दहता है ॥ १७ ॥

कोलाधिध्वंसक दह से
 दूषित यह आर्ये घरा है।
 मत्ताप इनी कारण से
 मानव ने आर्ग भरत है ॥ १८ ॥

हे देव ! हमे वह उल दो
जिससे निज देश वैचार्ये ।
इस घोर असुर द्रया को
भारत मे दूर भगार्ये ॥ १६ ॥

जवतक दुर्दस्यु रहित हो
निज तन्त्र देश यह मेरा ।
मुख की अभिलाषाओं को
यह तेज जला दे तेरा ॥ २० ॥

सहसा मन से मिट जाये
भय जीवन और निधन का ।
उत्साह भरो जन-जन में
निज देश मुक्ति साधन का ॥ २१ ॥

यह नम्र विनयकर नृप ने
आगे निज अश्व बढ़ाया ।
द्विज पूज्य देव सखिता से
कुछ निव्य आत्म उल पाया ॥ २२ ॥

जन हीन गहन कानन में
द्रुत वेग तुरग चलता है ।
पर दुर्ग गहन वन-पथ का
कुछ अन्त नहीं मिलता है ॥ २३ ॥

तप चली अचल अचला भी
हरिदश्रु किरण-माला से
बह चली पवन अन्धी हो
प्रप्रलित महा ब्याला से ॥ २४ ॥

हो रहा प्याम से मारे
अत्यन्त कुपित दिनकर है ।
बह भी जलता जलता सा
चलता कुल्ल रथ रुम्बर है ॥ २५ ॥

दो याम विगत कर ब्रम से
मध्याह्न समय जब आया ।
रत्रि गगन मिन्धु के तट में
जल पान हेतु रथ लाया ॥ २६ ॥

अवसान मिला उस वन का
नृप को अरिस्त तब चलकर ।
अञ्जल भे उस वानन के
मारिता देखी अति मुन्दर ॥ २७ ॥

इस पार सघन-तरु माली
अति नील-अगम जंगल है ।
उस पार सुगम अरुनी में
जनपद विशाल सम-हल है ॥ २८ ॥

अमरद्व युगल फूलों से
 वह दीप रही जल वारा ।
 सुग दुःख के मध्य निहित हो
 जैसे जन-जीवन सारा ॥ २६ ॥

अति उन्नत एक यहा से
 दुःख दूर महा भूधर था ।
 सिर उन्नत कर सरिता की
 छवि दर्शन मे तत्पर सा ॥ ३० ॥

जंगल भुज विटप उठाये
 गिरि को तर्जन करता था ।
 यह कहकर सा मृगपति के
 ध्वनि से गर्जन करता था ॥ ३१ ॥

पर-युवती की शोभा का
 अवलोकन पाप महा है ।
 हे गिरि रर ! साधु जनों ने
 इसको अति निन्द्य कहा है ॥ ३२ ॥

ऊँचे कुल से तन वन से
 जन उच्च नहीं लरते है ।
 उत्तम गुण कर्म जगत मे
 गौरव ऊँचा रखते है ॥ ३३ ॥

सबसे वनकर ऊँचा तू
 क्यों नीच कर्म करता है ?
 अविनीत । महा पापी तू
 अब से न कभी डरता है ॥ ३४ ॥

सुनकर यह भाव मुदित सी
 लतिवापूँ थीं लहराती ।
 अभिनन्दन कर उस वन के
 चरणों में सुमन चढाती ॥ ३५ ॥

अनुरक्त अतिथि पूजन में
 फल भार विनत शाग्रापूँ ।
 संकेत रहीं करती सी
 जन नित्य यहाँ पर आर्ये ॥ ३६ ॥

अर्पण कर सन कुल अपना
 मुख से पर हित साधन मे ।
 प्रस्तुत रहना यह मुनि का
 व्रत एक मिला उस वन मे ॥ ३७ ॥

देखा उस उपकारी के
 उपकार भरे जब तप को ।
 क्षण दो परिताप जगत के
 मय भूल गये उस नृप को ॥ ३८ ॥

बुद्ध काल चर्चा घट-तर की
 सेवन कर शीतल छाया ।
 ला तीर निकट निन हय को
 अति निर्मल नीर पिलाया ॥ ३८ ॥

इस पार उतर सरिता में
 करके मज्जन अघमर्षण ।
 जप मन्त्र, किया पितरों का
 अग्रनी पति ने परितर्पण ॥ ४० ॥

कर वृष हृदय हिम जल से
 उपर जन दृष्टि संभाली ।
 देखा उस तीर्थ पुलिन में
 सुर-चक्र एक भुज शाली ॥ ४१ ॥

उसकी शीतल छाया में
 स्थल-जीव रहे सब आते ।
 शाखा पर गगन विहारी
 सब जीव शरण थे पाते ॥ ४२ ॥

यह तुंग शिखर, पर अपने
 निर्भय था नीड रचाता ।
 प्राणीय पथिक-जनता को
 आत्मप से नित्य बचाता ॥ ४३ ॥

अप्रेम नहीं उसको था
 वायस-कृकलाग्-वर्को से।
 अत्यन्त नहीं प्रियता भी
 पिक चातक मोर शुको से ॥ ४४ ॥

लस पावन उस पीपल को
 अविरत उपहार परायण।
 विश्वास हुआ यह मन में
 “वसते इसमें नारायण” ॥ ४५ ॥

उस दिव्य महा सुर-त्तर का
 दर्शन कर शुद्ध हृदय से।
 श्रद्धा नत हो नृप बोला
 अ कित निज भाव प्रिय से ॥ ४६ ॥

हे पूज्य देव-त्तर। तुझमें
 नारायण नित्य वसे हैं।
 मुनि-जन कहते हैं तेरे
 पत्तों में देव लसे हैं ॥ ४७ ॥

अदयत्य । कहीं तुझमें जो
 अपना गुण देख न पाता।
 नारायण क्यों तब तुझको
 अपना ही रूप बताता ? ॥ ४८ ॥

हे दिव्य वनम्पति । अथवा
 तू एक स्वयं सुरवर है ।
 भूतल के सब जीवों का
 जो आप सदा हितकर है ॥ ४६ ॥

कर सकता है जितना भी
 उपकार किण जाता है ।
 न कभी किसी के प्रति तू
 कुछ भेदभाव लाता है ॥ ४७ ॥

फल अल्प अधिक देता है
 वह ईश कर्म जश नाना ।
 शुभ अशुभ कर्म करने का
 करता है नित्य पहाना ॥ ४१ ॥

जब वेद उसे कहते हैं
 विश्वेश कर्म फल दाता ।
 जैसे तब नारायण है
 सब का वह भाग्य विधाता ? ॥ ४२ ॥

सब जीव आप के तरु से
 फल एक मॉति पाते हैं ।
 सम दृष्टि सभी पर तेरी
 प्रत्यक्ष देस पाते है ॥ ४३ ॥

वह सगुण त्रम धरणी पर
 अवतार कभी लेता है।
 तप कर्मयोग-प्रस्था का
 उपदेश तभी देता है ॥ ५४ ॥

अवतार मदा तर तेरे
 सनको पत्रि करते हैं।
 रत मौन साधना में भी
 कुञ्ज दिव्य भाव धरते हैं ॥ ५५ ॥

तेरे इन रम्य दलों में
 चंचराता जो रहती है।
 “क्षण भी स्थिर त्रिद्व नहीं है”
 संदेश यही कहती है ॥ ५६ ॥

अधिभूत रूप से ही तो
 उपकार नहीं करता है।
 अधिदेव-रूप से भी तू
 जन दुःख दूर करता है ॥ ५७ ॥

तेरे वरु के पूजन से
 दुर्देव अशुभ हटते हैं।
 उत्थित प्रह-पाप दशा के
 संकट समय कटते हैं ॥ ५८ ॥

धन धाय विजय-बल मेधा
 प्रज्ञा-सन्तति-यशु-यश से ।
 यह आर्य देश भूपित हो
 दीर्घायु नदानर्चस से ॥ २६ ॥

मह-रूप असुर पापों को
 भारत से दूर निकालो ।
 हे अमरपुत्र ! कदणा से
 हमरो मज भाति मैंभालो ॥ ६० ॥

यह प्रिय परिक्रम परके
 उम पृथ्वराज के तल मे ।
 विश्राम किया उम नृप ने
 अति शान्त मृदुल भूतल म ॥ ६१ ॥

शुभ गन्व उन्मुम गुण-वाही
 ले अश तुहिन शीकर का
 आतिथ्य लगी करने सी
 वह मन्द वायु नरवर का ॥ ६२ ॥

सोचा नृपने इसमे क्यों
 सेवा का भाव समाया ?
 इस चंचल प्रकृति अनिल मे
 राम धैर्य कहां से आया ? ॥ ६३ ॥

जिसका है काम जगत की
 प्रारों में धूल उडाना।
 असहाय अवन को बल से
 भूतल पर नित्य गिराना ॥ ६४ ॥

जो साथ नहीं आतप के
 अत्यन्त ताप करती है।
 वह प्रायु यहाँ गीतल हो
 क्यों अन्य ताप हरती है ? ॥ ६५ ॥

इतना परिवर्तन किसकी
 उत्तम सगति का फल है ?
 गल के सज्जन होने में
 सत्सग मूल केवल है ॥ ६६ ॥

जय सत्संगति शुभ-जल से
 मन के मल धुल जाते हैं।
 तय मित्र भाव करणा के
 उत्तम विचार आते हैं ॥ ६७ ॥

इसमें सद्गुण भरने का
 है ध्येय यद्वा सखि को।
 जिसके तरंग-सीकर से
 पाया इस गीतलता को ॥ ६८ ॥

है सगिते । गुम-नैमी का
 है जीवन धन्य जगत में ।
 मितलानी है सपरी तू
 उपहार-भाय भारत में ॥ ६६ ॥

होता है सफल उन्हीं का
 गुण विभय विद्वय में पाना ।
 निनरा प्रत है निज गुण मे
 सब को गुणवाग यनाना ॥ ७० ॥

यद्यपि श्रगाध वारिधि में
 श्रति श्रधिः नीर पूरित है ।
 वृषितों का विन्तु फर्ही भी
 उममे होता क्या हित है ? ॥ ७१ ॥

तेरे इस सलित सुधा से
 प्राणी असंख्य जीते हैं ।
 प्यामे दिन रात यहा पर
 निर्याध वारि पीते हैं ॥ ७२ ॥

गौरव नीरधि से बढकर
 है लब्ध तुम्हे निज-तप से ।
 है धन्य आम फल दाता
 फल-हीन कल्प पादप से ॥ ७३ ॥

वनती जल पामर तुफसे
 यह उर्पर तीरधरा है।
 सरिते। तेरे श्चल मे
 पय-शृणु फल श्रन भरा है ॥ ७४ ॥

लहते निससे नर मुख है
 पशु-चश जहाँ पतना है।
 प्रयत्न रही मरिता तू
 भूतल पर कप लता है ॥ ७५ ॥

यह सुन्दर दिव्य नदी ने
 कल कल निज शब्द सुनाया।
 गुण मुग्ध निरग्न उम नृप को
 जीवन का त्याग सिगाया ॥ ७६ ॥

दिव्यमपति-करात्र स्पर्श से भीत मी हो
 थिकल थिकल छाया भूल मे प्रा रही थी।
 मचल मचल जैसे श्वैरिणी किन्तु धारा
 प्रतिपल डठलानी दूल से जा रही थी ॥ ७७ ॥

चतुर्थ सर्ग

प्रतीर्णं नभस्त-नभस्तत मे मास्यी
भानु प्रमत्त रथ पश्चिम नै गता था ।
संपूर्ण-त्रिदश भर का यद्द फमसार्त्ती
संदेश त्रिदश-वति से कान्ने जला था ॥ १ ॥

शास्ता निलीन उतरे तरु से पतंगी
धाहार ले उड़ री शिशु री खिलाने ।
वन्या समृष्ट्य हृरिणी जल के समीप
आने लगी सलिल शायरु को पिलाने ॥ २ ॥

विश्राम को समय देकर एक याम
गाय स्वयं त्रिचरने-चरने-चली थीं ।
सन्तान मी अमुग की कुल-वालिमा को
भेमें त्रिशुद्ध करने जल मे हली थीं ॥ ३ ॥

होतीं नहीं प्रिय वे अनुमान का भी
 होतीं निमग्न उनकी यदि दो विपणों ।
 अल्पज्ञ देस उनको यह ये बताते
 “कोई छिपे दनुज लेकर हैं कृपणों ॥ ४ ॥

गंभीर-नाद कर उत्थित सा पयोद
 उक्षा विशाल तट रोद लगा गिराने ।
 था दृप्त जीतकर दुजय शत्रुओं को
 उन्मत्त सा अखिल भू पर भींग ताने ॥ ५ ॥

अद्वय-वृक्ष तल को तज मन्द मन्द
 छाया चली निकट से गृह-सपदा सी ।
 आतिथ्य से विमुक्तता पर भी कृतज्ञ
 मानी महीपति हुआ गमनाभिलाषी ॥ ६ ॥

आर्यस्वभावा नृप का लस सुग्ध सी हो
 आई समीप निज लेकर वत्स धेनु ।
 प्रत्यक्ष मंगलमयी उम देवता की
 ली प्रीति से प्रणत पावन पाद रेणु ॥ ७ ॥

रोमानली धवल पीवर चारु गात्र
 था मृग शृग-युग भूपित भव्य भाल ।
 यी दर्शनीय वह एक विचित्र कान्ति
 मंचारिणी सुदृश-रशि महा विशाल ॥ ८ ॥

रत्नायिता सुरभि थी यह भायिनी ली
 सत्कर्म की मफन निधित अर्थ सिद्धि ।
 बोला कृत्तिय उमठे तू दशनों ने
 "तू गण्य । ते मरन मानर की समृद्धि ॥ ६ ॥

हे पायरी जननि । जाम-तीर्थ धेनो ।
 तेरा शरीर-वण भी गुण से भरा है ।
 स्वच्छन्द है शरण तू रखती जहाँ भी
 लोनी यहीं सुरपथिन वसुधरा है ॥ १० ॥

आरोग्य-दानि कर पीसर दुग्ध तेरा
 आ-बाल-वृद्ध नर है उज-वृद्धि पाता ।
 तेरे पुतीत घृत से कर यज्ञ पूर्ति
 है मानता द्विज तुमे निर पृथ्वी गावा ॥ ११ ॥

तू धेनु है धनिक का धन वृद्धिशील
 है एक तू प्रथम जीवन का सहारा ।
 पाले अनाथ कितने अबला जनों को
 तू ने दरिद्र-मुल को न यहाँ उवारा ? ॥ १२ ॥

गोमक्ति-शुद्ध मा की कर धेनु सेवा
 पूरी हुई न कब सन्तति-वामनाएँ ।
 गोदान पुण्य जल ने कर पाप दग्ध
 है पातकी न कितने जलते बचाये ॥ १३ ॥

गो-पंक्ति टान कर पाकर धर्म नौका
 दानी हुए न कितने भय सिंधु पार ?
 क्या श्राद्ध-धेनु लघु वत्सतरी तरी सी
 देती नहीं विकट वैतरणी उतार ? ॥ १४ ॥

पाता न घेनु कुल से वृष जो असख्य
 होता न धन्य यह राष्ट्र कृषि प्रधान ।
 विश्वम्भरा न रहता अपनी रा को
 कैसे अकृत्र करता परमात्म भान ? ॥ १५ ॥

गोपाल को सुलभ सागर दूध का है
 तो भी न शत्रु यदि दुर्लभ तत्र पाता ।
 छूता न घेनु जल गोमय हाथ से जो
 क्यों पद्मगव्य-गरिमा वह जान पाता ॥ १६ ॥

अन्यत्र भूमि पर मान्य-वंश सारा
 है स्वार्थ लोभ यश यद्यपि वेनु सेत्री ।
 किन्तु प्रशस्त इस भारत मे मदा मे
 है घेनु आर्य-कुल की कुल पूज्य देत्री ॥ १७ ॥

हैं क्रूर हिंस्र चिन्मे करुणा न आती
 ऐसे पुत्र-कुल को पय तू पिलाती ।
 क्यों शत्रु मित्र पर भाव समानता का ?
 है प्य मात्र यह मूल्य महानता का ॥ १८ ॥

आन्तित्य की रहन है वसु की मुजाता
 तू घेनु है अदिति पावन रद्र-भाता ।
 अल्ल्या अग्रध्य तुम्हको श्रुति मन्त्र गाते
 हैं घेनु-वंश-महिमा मत्र को सुनाते ॥ १६ ॥

प्रातः पवित्र जिसका मुग्ध देखने से
 होते अविघ्न सब दैनिक कार्य सिद्ध ।
 होवे न दूर हमसे वह घेनु-जदमी
 होते रहें हम सदा उससे विशुद्ध ॥ २० ॥

गो-शृन्द मे मतत जास रहे हमारा
 हो घेनु मूक यह नीरज भाग मारा ।
 है कामना हृदय मे यह एक मेरे
 पाऊँ पुन मनुज जन्म ममीप तेरे ॥ २१ ॥

मेरे कुवन्धु जन जो मति-भन्दता से
 हैं दस्यु वर्ग-रत देशविनाश-कारी ।
 कर्तव्य-बोध उनके अब चित्त में दो
 हे अम्य । हो न निज से निज नाश भारी ॥ २२ ॥

त्याग न आर्य अपनी महनीय नीति
 आये यहाँ न परकीय अनार्य रीति ।
 मूल न आत्म-कुल-गौरव-सम्यता की
 सीखें न दस्यु कुल शील अभव्यता को ॥ २३ ॥

भाये कहीं न उनको पर वेष भाषा
 हो शीघ्र दूर उनके मन से दुरारा ।
 धाधा विलीन कर दें पर-तन्त्रता की
 हो भावना हृदय में निज-तन्त्रता की ॥ २४ ॥

श्रद्धालु भी नृपति से वह सौरभेयी
 वीली न मौन मुख से प्रतिमा समान ।
 सद्भाव किन्तु उसके बतला रहे थे
 ले स्नेह भार युग लोचन भासमान ॥ २५ ॥

दृष्टि प्रसन्न करुणामय देवता की
 है भक्त के अग्निल वैभय का निधान ।
 है इष्ट देव-चल ने कितने न मेटे
 दुर्देय के कठिन अ कित भी विधान ॥ २६ ॥

आरुढ़ धर्म पर भी यह धर्म रक्षी
 अश्नागिरुढ वरणीद्र घला महर्षे ।
 थी साथ साथ पथ के चलती नदी भी
 मानों उसे रचित था नृप-सन्निकर्षे ॥ २७ ॥

देता हुआ पथिक को शुभ सूचना मी
 घाणी मार्ग उम घातक ने सुनाई ।
 स्वातीच निन्दु गिसने रख एक लक्ष्य
 थी प्यान अन्य जल से १ कमी युम्नाई ॥ २८ ॥

विरयात वाग बह दूर मिली पुरानी
 प्राचीन था रचित धाम जहाँ सती का ।
 सिन्दूर सिक्त उस चत्वर में छिपा था
 अद्वैत सा हृदय शाश्वत दम्पती का ॥ २६ ॥

नारी-समाज उसकी कर नित्य पूजा
 सौभाग्य को अचल ही न रहा बनाता ।
 आदर्श से उस चरित्रवती सती के
 नारी-चरित्र-बल भी घरदान पाता ॥ ३० ॥

हो भक्ति-नम्र उसके प्रति भूप धोला
 तू स्वर्ग में उचित मान सदा लहेगी ।
 आर्ये ! सतीत्व पर ही तुम सी सती के
 सत्ता पवित्र इस भारत की रहेगी ॥ ३१ ॥

पूजा विशेष करने उस सुव्रता की
 संभार साज गृहिणी जन आ रही थीं ।
 जैसे विनीत सभारियों सब शीलजा की
 गौरी महेश महिमा मिल गा रही थीं ॥ ३२ ॥

शालीन शील शुचि था सरल स्वभाव
 र्यो अगराग कुल्ल भी न कहीं लगाये ।
 प्रत्येक सगठित थे दृढ़ अग तो भी
 सयांग में सद्ज सुन्दरता छिपाये ॥ ३३ ॥

अत्यन्त दूर जाने लख रत्नना से
होती रही चरित सी कपि बुद्धि डीली।
वे थीं तुली न जाने निनरी तुला मे
थीं नागरी युप्रतिया श्रम-हीन पीली ॥ ३३ ॥

थी एक भी न उनमें कुसुमोपमाङ्गी
कोई न थी चपल-लोचन सी कुरङ्गी।
अप्राप्त हस-गति थी अति मन्दता की
थी अल्प भी न तनु मे तनुता लता की ॥ ३४ ॥

अत्यन्त भी न कपि से भय मानती थीं
वे चित्र देख उरना कथ जानती थीं ?
वीराङ्गना घतयती कुल भासिनी थीं
स्वच्छन्द भिन्नमति वे न विलासिनी थीं ॥ ३५ ॥

ऐसा नहीं रुचित था, उनको स्वराज्य
हो स्तुत्य कर्म जिसमें निज लान धोना।
थीं चाहती न अधिकार समानता का
हो न्याय-युक्त जिसमें पतिधर्म खोना ॥ ३७ ॥

आचार मे विनय अञ्जल मे मुख श्री
आत्मा अभिन्न पति मे रख देवता सी।
संतुष्ट नित्य करके परिवार-सेवा
थीं स्वर्ग वे भवन मे अपने बसाती ॥ ३८ ॥

मीमन्तिनी चरण मे नत सी सती के
 थी मार्ग भूमि पथ मध्य विभक्त-सीमा ।
 मस्याम्बरा निरखते उस उर्वरा को
 धीरे धरापति चला धर अदब धीमा ॥ ३६ ॥

निम्नोच्च भेद जगती-चल का छिपाते
 विभ्रान्ति से धवल दीरघ चले दिगन्त ।
 संपत्ति मूल यह थी जिसकी तपस्या
 था हन्त ! किन्तु वह धीव रहा यसन्त ॥ ४० ॥

ये तुल्य बीज कृषि-पद्धति भी अभिन्ता
 उत्पत्ति किन्तु सजकी न रही समान ।
 या खेत भाग्य खतना फलयोग भागी
 जैसा रहा श्रमिक के श्रम का विधान ॥ ४१ ॥

देखे कुटुम्ब कृषि काट रहे कहीं हैं
 कोई समेटकर हैं उसको बँधाते ।
 षोमे सँभाल कितने सिर से चले हैं
 भारी कहीं शकट हैं उनसे भरते ॥ ४२ ॥

हैं वृद्ध लगन खलिदान बुहारने में
 वृद्धा कहीं निरत धान्य सुधारने में ।
 हैं पुछ उच्च इस भाँति कहीं बनाये
 जैसे विशाल गिरि ने सिर हीं उठाये ॥ ४३ ॥

सूखे यहा श्रमित अन्न अभी सडे है
नीचे गये धिसर मार्ग पट पड ह।
भूपाल के न यह था मन मे समाता
है ग्राम राशि इतनी किस भोति पाता ? ॥ ४४

है धान्य-राशि । सुर सधन तू सदा है
प्राण प्रदा प्रमुख मान्य सपदा है ।
जो तत्व मित्र हित का तुम्हमे कहीं है
माणिक्य मे रजत-कचन मे नहीं है ॥ ४५ ॥

हैं वृत्तियाँ सकल मानव की अपूर्णा
तू एक है कृपक की कृपि अत्रपूर्णा
प्राजीविका अपर भी पशु पालना है
वाणिज्य आदि सब लोक विडम्बना है ॥ ४६

ले बैल-पक्ति कण मर्दा ना कराना
सामान्य वायु गति देस पुन ओसाना ।
अन्यत्र सींच बुम डेर कहीं लगाना
अच्छे लगे नृपति को कृपि-कर्म नाना ॥ ४७ ॥

देखा शरीर सब का रज से लिपा है
ध्रु-नेत्र-कर्ण मुख केश कहीं छिपा है ।
मानो प्रचण्ड सविता न उन्हें तपाये
माँ भूमि है इसलिये उर में चुराये ॥ ४८ ॥

प्रत्यक्ष देख करके गम धूलि धारी
 था सोचता हृदय में नृप अद्रव-चारी ।
 है शम्भु वेप यह यद्यपि भूति भासी
 है कर्म योग रत किन्तु नहीं उदासी ॥ ४६ ॥

आगे नितालनर अश पुरोहितों का
 कोई वहा कृपक राशि रहा उठाता ।
 कोई अनाथ विन्ताग निराश्रितों के
 रक्षार्थ भाग कुट्ट गेप रहा वचाता ॥ ५० ॥

मार्ग प्रपा यति सदाव्रत धर्मशाला
 तालाव कृप मठ मन्दिर पाठशाला ।
 दातव्य भाग इतना सन ने लगाया
 जो राजकीय कर था उसको चुकाया ॥ ५१ ॥

वारी कहार चरवाह कुभार कोरी
 तक्षा तथा रजक नापित लौहकार ।
 जो देय था नियत वार्षिक कर्म मूल्य
 रक्ता न सीरधर ने इनका उधार ॥ ५२ ॥

जो अन्न वर्षभर है श्रम से कमाता
 देते हुए न उसको यदि लोभ आता ।
 तो भार विश्वभर का विधि ने दिया है
 क्या आपही कृपक ने अथवा लिया है ? ॥ ५३ ॥

गभीर सा हृदय मे यह प्रश्न आया
 सारा महत्त्व उनका तब आँक पाया ।
 भूलोक भार कृपकों पर देख मौले
 आश्चर्य मुग्ध मन मे तब भूप बोले ॥ ५४ ॥

प्यारे किसान सत्रके तुम अन्नदाता
 हे लोकपाल । सत्रके तुम हो विधाता ।
 सत्कर्म निष्ठ तुम भूतल के तपस्वी
 देखा उदार मन से तुम हो मनस्वी ॥ ५५ ॥

हे स्वावलम्ब्य । तुम पूर्ण परिश्रमी हो
 आलस्य से रहित सतत उद्यमी हो ।
 हे काम-वृत्ति मन मे न प्रिलासिता की
 पोथी कभी न पढ़ते पर दासता की ॥ ५६ ॥

हो व्यर्थ की अधिक बात नहीं बनाते
 विज्ञान की विरस भी न क्या सुनाते ।
 निष्कर्म जीवन कदापि नहीं बिताते
 जो सोचते हृदय मे, करके दिखाते ॥ ५७ ॥

हो जानते न सुख यक कभी बनाना
 या देस दीन निज को घर मे छिपाना ।
 विश्वास देकर नहीं करते यहाना
 आता नहीं धन तुला-झल से कमाना ॥ ५८ ॥

प्रदृष्टलिङ्गा गान-चुम्बित गेह सारे
 हैं विद्यमान कृपक-श्रम के सहारे ।
 जो देश का न भरता तुमसे राजाना
 होता अशक्य यह शासन का चलाना ॥ ५६ ॥

योगी महन्त कवि चारण वेपवारी
 जीते किसान पर हैं व्ययसायकारी ।
 कोई गहे रग किसी नभ का सहारा
 है किन्तु भूमि पर ही उपलब्ध चारा ॥ ६० ॥

है शुद्ध वृत्ति कृषि भूतल मे न अन्य
 है विद्य मे कृपक जीवन एक वन्य ।
 सिद्धान्त मान्य यह है मय से पुराना
 "हो स्वावलम्ब्य शुचि जीवन को प्रिताना ॥ ६१ ॥

प्रामीण वेप इनका यह है धताता
 उद्योगशील जन हो श्रम मात्र भाता ।
 है सत्य भाव यह मानस को लुभाता
 "है प्राम का मनुज ही सरलत्व पाता ॥ ६२ ॥

सेवा परस्पर यहाँ निज धर्म निष्ठा
 है शुद्ध आचरण मात्र यहा प्रतिष्ठा ।
 आत्मीयता सुमति है सुविनीत भाषा
 है स्नेह भाव सबमें निज-व्यंश का सा ॥ ६३ ॥

कैसा पवित्र यह मानव का निवास
 आते जहा छल कुचक्र कभी न पास ।
 क्या ग्राम राज्य यह भू पर भिन्न ही है ?
 जैसे यहाँ नृपति शासन ही नहीं है ॥ ६४ ॥

रत सतत कुचक्रों मे कहीं वे कुचक्री
 यह कृपि रत जीवों का कहीं शान्त वास ।
 नृप चकित रहा क्यों साथ ही देश में है
 धन तम रजनी का भानु का भी प्रकाश ॥ ६५ ॥

पञ्चम सर्ग

देव चला था अन्त भानु रथ अपर-गगन का
पाता है उद्योग लक्ष्य इच्छित निज मन का ।
देव सुरथ भी अतिथि हो रहा था उस वन का
जहा सुलभ सौजन्य सदा सत्रको सज्जन का ॥ १ ॥

धूमिल था हो रहा क्षितिज गोधूलि-समय से
हुआ वृद्ध सा दिवस मन्द आतंकित भय से ।
शान्त जगत् पर देव तिमिर-दानव का ध्वाना
समयोचित सा लिया मान उसने द्विप जाना ॥ २ ॥

उपर जा रहा भानु अस्तगिरि के शरणाँ में
इधर नदी के निकट भूप गुरु के चरणाँ में ।
दोनों की मुन-ज्ञानि अधिक निस्तेज हुई वी
पहले से पर कहीं अश्व गति तेज हुई थी ॥ ३ ॥

तज्जी रगों ने भूमि वसे जाकर तदर्थों पर
उचित नहीं था तस भीरु नरपति सी भू पर ।
देव दिवस का श्रान्त रहे सब मिलकर रोते
प्रन्थकार मे पराधीन क्या सुख ने सोते ? ॥ ४ ॥

जहा विहंगम साधु रहे मन शोक मनाते
गल जलूक ये वहीं किन्तु आमोद मनाते ।
रहे वृद्ध से कमल सिन्न सिर कहीं भुक्ताते
कुमुद युक्त से रहे नेत्र उनकी मुमकताते ॥ ५ ॥

पीले पीले दिनकर के कर जोप रहे थे
विधुर नलिन नलिनी नयनों को मॉप रहे थे ।
धरा हुई भयभीत प्रार्य ललना सी काली
अमाम गगन के चढी कुपित आनन पर लाली ॥ ६ ॥

हुए धीर भी वृद्ध रहित छाया मे सारे
दुग्धिन रगों को देव पर लोचन-जल ठारे ।
निज दुख मे अद्यपि कठोर सज्जन होते हैं
पर विपत्ति से किन्तु द्रवित होकर रोते हैं ॥ ७ ॥

सरिता थी बह रही एक गति से भववाली
सरस हृदय से नहीं उन्नी अद्यपि थी खाली ।
है क्षाती की दशा विदर से नहीं निराली
सुख दुःख एक समान ज्ञान से गुनने वाली ॥ ८ ॥

उमने निज रम-पूर चढे यौवन देखे थे
 कुत्र दिन में फिर गलित गिथिल निज वन देखे थे ।
 जीवन में भी कई मार उतराय हुए थे
 फिर मवेग कितने ही प्रबल चढाय हुए थे ॥ ६ ॥

गिरि शरण्य दुर्गम्य पथ निस्तार किया था
 प्रिविध विघ्न चट्टान काट कर पार किया था ।
 अति अगाध भी लक्ष्य मिन्धु अग्राह लिया था
 अन्तमूल में पैठ तत्र मत्र थाह लिया था ॥ १० ॥

तीर्थ तीर्थ से पावन रज लेती रहती थी
 परद्वि में जीवन अपना अर्पण करती थी ।
 योगी सन्त अनेक उसे मिलते रहते थे
 उसके तट पर विप्र पुराण रथा कहते थे ॥ ११ ॥

करके पर उपकार ऋणों से मुक्त हुई थी
 सौंप कर्म भी प्रभु को जीवनमुक्त हुई थी ।
 विना ऋणों से मुक्त हुए क्या मुक्ति सुलभ है ?
 लेने पर भी त्रेप मुक्त होना दुर्लभ है ॥ १२ ॥

वह पवित्र थी किन्तु अन्य का मल धोती थी
 करके सेवाधर्म मुदित मन में होती थी ।
 मानव जीवन का उसने अध्ययन किया था
 संसारी कटु मधुर दृश्य पर भजन किया था ॥ १३ ॥

लखे स्नेह माकार शुद्ध शैशव थे भोले
 रहीं ज्ञात शृंगार-भरी यौवन-कल्लोलें ॥
 फिर प्रियोग में कभी उन्हीं के अचल गीले
 वृद्ध लोभ से झुंके कंठ देरे थे ढीले ॥ १४ ॥

दुःखमय थी सुन चुकी कई जीवन गाथायें
 उसे न थी अज्ञात मूक भी मनोव्यथायें ।
 आँसु कितनी लाल उगलती सी ज्वालाएँ
 देख चुकी थी बन्दुरक्त से प्यास बुझाये ॥ १५ ॥

रही देखती तब कहीं बुद्बुद से फूले
 गज जैसे उन्मत्त मोह-वश मद में भूले ।
 नौशाँ थी लग्नी भँवर में कट समाते
 हठ कुतर्क भी तब चुकी थी देव मनाते ॥ १६ ॥

मधुर-हास ज्वालास-रातित तलाशा-लीलाएँ
 अप्रिय प्रिय भाषिणी कलह-रत नटु शीला ।
 मरल उमा भी मुग्ध चरित्रवती जालाएँ
 भीरु तरल भी थीं देखी कितनी अजलाएँ ॥ १७ ॥

अप्य पति सौभाग्य लखा था यधू भाल में
 नारी का भी सफल भाग्य कुल के प्रयाल में ।
 देखे दे निष्कल यमत्त नी वन्य डाल में
 दिन वृष्ट की विधुर लताएँ प्रीम्न-काल में ॥ १८ ॥

होते देखा प्रस्त धर्म पापाचारों से
 प्रस्त धेनु सी धरा पिन्ल दानत्र भारों से ।
 युग युग देखा असुर-नाश था अत्रतारों से
 रक्षित भारत आत्म सनातन संस्कारों से ॥ १६ ॥

देखे किने जल प्रलय भूचाल घने ये
 धरणी मे धँस नगर क्षणों मे ताल बने थे ।
 वसे हुए सपन्न देश भी उजड चुके थे
 विलस से भूपाल कई वन विगड चुके थे ॥ २० ॥

समय समय पर रोग महामारी थे आते
 एक भाग से रंरु धनी सत्र थे त्रिक्र जाने ।
 नित्य उसी के निरुट रहे लाखों शत्रु लाते
 कठिन हृदय करके घान्धव थे उन्हें जलाते ॥ २१ ॥

धधक वधक कर कहीं घोर सन्ताप-ज्वाला
 सुलग-सुलग कर धूम शोक जादल सा काला ।
 बुभुभु वन कर रास सती विधवा सी बाला
 चिता नटी का भाव-नृत्य था नहा निराला ॥ २२ ॥

सींच सींच शत्रु गण्ड कहीं जंमूक चबाने
 कालों पर गीत्र काक थे कलह मचाते ।
 दूर दूर तक मुण्ड पडे थे दौत निराले
 पिना लाभ उन सड़ों गलों को दौन सँभाले ॥ २३ ॥

कौन गिने विश्राम यहाँ कितनों ने पाये
 कितनों को दी गई तिलाशलि कौन गिनाये।
 प्रेत भूमि में छिपे हुएों को कौन बताये
 सुनता उनकी कौन भयानक दन्तकथाएँ ॥ २४ ॥

किन्तु नदी को जीव दशाएँ सब अवगत थीं
 घृणा शोक में रहित वृत्ति उसकी संयत थी।
 यह सीधी यदि रही कुटिल भी कहीं दिखाती
 देश काल का ध्यान इसी से रही दिलाती ॥ २५ ॥

देव निष्किरण भातु सगों ने जब दुरा माना
 उत्तरंग हो उठी प्रकल उनकी पहिचाना।
 सहसा कल कल नाद उसी के आया जल से
 उमसे सूचित हुए भाव कुल ये उज्ज्वल से ॥ २६ ॥

“है अत्यन्त विशाल काल का अन्त नहीं है
 आता है दिन जहाँ रात भी निकट वहीं है।
 सुख दुःख से है घिरा समय सब के जीवन का
 किन्तु दुःख में उचित कृत्य है यह मज्जन का ॥ २७ ॥

नहीं फहीं भी अपनी दुर्बलता दिखाए
 रहे न ऐसा भेद शत्रु विसर्ग गल पाये।
 साहस-त्रल से गिरे हुए को उन्च उठाये
 अवनत को भी उन्नति का विदनास दिलाये ॥ २८ ॥

2

3

4

5

6

अद्वय बाँध जत्र चला नन यह भूपति आगे
 लगा परस्पर-पैर यहाँ है पशु भी त्यागे ।
 आहुति का है गन्ध निकल गृह-गृह से आता
 दूर-दूर से अतिथि-चन्द्र को निम्न बुलाता ॥ ३१ ॥

पञ्चयज्ञ से परम शुद्ध तृण रचित भजन में
 ऋषि-कुटुम्ब का वास देस आया यह मन में ।
 ग्राम नगर से परे ज्ञान-तप के साधन में
 है भारत का कुलगुन्त्र केवल कानन में ॥ ३५ ॥

सदाचार-संस्कार ब्रह्मचर्योचित शिवा
 देते हैं सुत निर्विशेष प्रदु गण को भिक्षा ।
 अध्यापन अस्यार्थ, धर्म-रति शान्ति तितिक्षा
 धन्य धन्य यह दिव्य आर्प-जीवन की दीक्षा ॥ ३६ ॥

उपनीती, मेसली, वृताजिगदण्ड हिताशी,
 निरालस्य,गुर्गनि देव, शुचि, सन्ध्योपासी ।
 ज्ञान पात्र, अभ्रान्त, दान्त, संसृत, मितभाषी
 है आश्रम के अति विनीत सब अ-तेवासी ॥ ३७ ॥

मुग्ध मूर्ति सी यहाँ जिना चन्धन है गायें
 प्रेम भाग में अटल हृदय की सी श्रद्धाएँ ।
 आरण्यक मन जीव प्रचरते हैं निर्भय से
 है इन पर भी स्नेह यहाँ अन्याय तनय से ॥ ३८ ॥

तृण मण्डप था एक उमी उद्यान-गर्भ में
लिपट रही थी लता उमी के हृदन दर्भ में।
अभ्यन्तर था एक भाग में कुण्ड हवन का
सकल वहाँ संभार धरा था नित्य-मन का ॥ ४४ ॥

तोय-क्लश के पास लगा था मुनि का आसन
दूर दूर थे पडे कटे पावन दर्भासन।
अम-पीठिका पर पुस्तक रुद्राक्ष-चलय था
भूमिदेव का भव्य उज्र वह देवालय था ॥ ४५ ॥

उद्योतित सी तपोज्योति दिव्य प्रभाप से
थे गुम्बर आमीन वहा शान्त स्वभाव से।
चिर परिचित भी जरा देह पर थी भय-कंपित
प्रथमागत हो क्यों न देख उनकी तप शक्ति ? ॥ ४६ ॥

पुण्यपुञ्ज सा बाध रहे थे धवल जटा से
शोभित जैसे शंभु-सीस सुर सिन्धु-च्छटा से।
शुभ भस्म से कलिन उच्च था भाल अलंकृत
तुहिन शैल मा निर्भर की रेखा से अकित ॥ ४७ ॥

विद्या-बलधि अगाध, तर्ज-कानन पञ्चानन
अग्विल वेद तिधि अपर भूमि-तल पर चतुरानन।
सर्ज त्रिश्य हित, पूण परम उत्तम विचार से
थे मुनिवर गंभीर हृदय विज्ञान भार से ॥ ४८ ॥

तज सन्ता है नहीं जिसे मानव ससारी
 उस सुख का हो परित्याग जिसने सुखकारी।
 हो जिसका आचार्य पूज्य पद आचरणों से
 होता गुरु-कुल धन्य उसी के है चरणों से ॥ ५४ ॥

दुःखा निरुद्ध माक्षात, गया भुज नरपति सिर से
 वदा हर्ष, वह मिला जिसे चाहा था चिर से।
 नाम-गोत्र वह प्रयत्न पाणि ली रज गुरु पद की
 गुरु नति केंदल एक हेतु है उन्नति पद की ॥ ५५ ॥

प्रीति-पूर्ण मुनिवर ने नृप को कह "विजयस्व"
 दिया शुभाशीर्वाद पुन बोले—"नृप, आत्व"
 दिव्य दृष्टि से नृपागमन का कारण जाना
 कि तु कुशल का प्रश्न वहा समयोचित माना ॥ ५६ ॥

पर्ण-बुटी में मिला मान्य कुलपति से भूप
 था वह युगल मिलाप परस्पर के अनुरूप।
 महापुरुष का दुःख महा मानव हरते है
 कम्पित मूलतः भार महा दिग्गज धरते है ॥ ५७ ॥

असुर सदृश सारे दश म द्वा रहा था
 अति मलिन निशा ना पाप सा अन्धकार।
 अखिल भुवन भासी तेज का एक मात्र
 मुनि-जन मन में था किन्तु पूणाधिकार ॥ ५८ ॥

चन्द्रावली से नभ चित्र शोभा
 लद्योत भा से क्षिति-वृक्ष-माला ।
 थी हो रही भासित मन्द मन्द
 दीप प्रभा से मुनि पर्णशाला ॥ ४ ॥

रहा समीप-स्थ कुटीर के ही
 सुभाग्यशाली तर एक शाल ।
 कृपावती कानन-देवता से
 नियुक्त सा आश्रम रक्षपाल ॥ ५ ॥

मुनीश की दीग्य चली दयाद्रा
 नृपोन्मुखी उत्सुक सौम्य दृष्टि
 हुई मुधा पूरित चन्द्रिना की
 नमीन सी निर्मित एक सृष्टि ॥ ६ ॥

हुआ मुदीप्त प्रतिभा प्रभा-से
 प्रदीप सारस्यत दीप्यमान ।
 गिरा हुई मज्जित शुद्ध-वर्णा
 द्विजेन्द्र विद्या पर सायधान ॥ ७ ॥

न शुष्क थे केवल ब्रह्मवादी
 निरक्त ही श्रोत्रिय वे महर्षि ।
 अगाध दुर्वोध नयाच्यि के भी
 प्रकाण्ड थे पण्डित पारदर्शा ॥ ८ ॥

लीर-व्ययहारता मे
 मे ये करते तपस्या ।
 देते पर दूर मे ली
 गभीर जगत्समस्या ॥ ६ ॥

अभूल्य भी देकर शास्त्र लेते
 प्रधीत मे प्रेमल ये परीक्षा ।
 गुह्य दिग्गुण मे तिन्य था
 न घात मे दकर मात्र दीक्षा ॥ १० ॥

मन्वादि-परम्परा मे
 ये तो मूर्ति मे विश्वास ।
 मूर्ति से गुह्य लेते फों
 का शास्त्र परमात्मा ॥ ११ ॥

नरक के उतर देते भारी
 नरक का "धर्म" नर ।
 उदार नीति प्रकट करी
 दुर्भीष्ट से दूर रहकर ॥ १२ ॥

१ । मनीषा-गुण-धर्म ।
 "हे कदा मनीषा कदा"
 "य हे मनीषा कदा मे ही"
 २ । देवोक्ति का उदाहरण ॥ १३ ॥

हैं आप के रक्षित राष्ट्र में क्या
अनार्य संसर्ग विहीन आर्य ?
निर्विघ्न होते उनके सभी हैं
स्वतन्त्रता पूर्वक धर्म-कार्य ? ॥ १४ ॥

क्या आप के नीति रहस्य वेत्ता
अमाल्य है पङ्कगुण सूत्रधार ?
प्रयोग में विग्रह सन्धि के भी
गतात्म-संदेह विमर्शकार ॥ १५ ॥

मुसज्ज सेना, धन, दुर्ग आदि
है राज्य के सात सुरक्ष्य अंग ।
बली बनाती इनको सुनीति
प्रयोग हो कितु यथा प्रसंग ॥ १६ ॥

प्रयोग में श्रोपधि नीति के जो
न हों विरोधानुभवी समर्थ ।
दुर्ग मन्त्री रिपु तुल्य ही वे
स्वदेश का है करते अनर्थ ॥ १७ ॥

क्या साधनोपाय, सहाय, सिद्धि,
निपत् प्रतीकार, सुदेश-काल ।
पद्मान्न को भी नय निर्णयार्थ
विचारते हो प्रिय भूमिपाल ॥ १८ ॥

नियुक्त हैं क्या नृप देश-भक्त
 सुदक्ष कार्यक्षम कार्य-वर्ता ?
 कुलीन सत्यव्रत शीलशाली
 न चातुकारी जन वित्त-हर्ता ? ॥ १८ ॥

नहीं कभी क्या नृप । राज्य के हैं
 विलम्ब से वेतन भृत्य पाते ?
 प्रमाद से या धन लोभ से भी
 न शत्रु को भेद वही बताते ? ॥ १९ ॥

ॐ शक्ति के साधन तीन ही जो
 प्रभुत्व, उत्साह, सुगुण मन्त्र ।
 क्या आप ने है इनको बनाया
 स्वराज्य का शासन मूलमन्त्र ? ॥ २१ ॥

क्या युग्म आध्यात्मिक शक्ति बीज
 उत्साह, प्रज्ञा बल आप में है ?
 यहीं जयश्री रहती नृपों की
 न सर्वदा आश्रित चाप में है ॥ २० ॥

विचार से निश्चित कृत्य का भी
 होता नहीं क्या द्रुत संप्रिधान ?
 सुकृत्य में अल्प विलम्ब भी है
 असिद्धि का एक महा निदान ॥ २४ ॥

प्रयुक्त हैं क्या पर राष्ट्र मे भी
अनेक भाषा विद गुप्त चार ?
अत्यन्त भी संवृत शत्रुओं का
है ज्ञात होता जिनसे विचार ॥ २४ ॥

संराद-दाता, ऋ-मप्रहीता,
अमात्य, कोपाधिप, दुर्गपाल ।
शास्ता, प्रलाभ्यक्ष तथा पुरोध
संयुक्त सीमा पर रक्षपाल ॥ २५ ॥

विभेद्य होते पर पक्ष से जो
ये तीर्थ हैं पञ्चदश प्रकार ।
क्या राज्य का लोचन सूक्ष्म दर्शी
है देवता भी प्रणिधि प्रचार ? ॥ २६ ॥

स्वपक्ष मे पाचक, वैद्य, गान्धी,
ताम्यूल-वाही, निज अगपाल ।
वेद्यादि अष्टादश शकनीय
विघात के कारण हैं विशाल ॥ २७ ॥

क्या कृत्य वेत्ता चर गूढ-चारी
सदिग्ध-तीर्थ-स्थल थाहते हैं ?
तडाग सा क्या इनका निगेष
अगाध अन्तस्त्वल गाहते हैं ? ॥ २८ ॥

क्या आप की धर्मवती सभा में
 प्रधानता लब्ध अयोग्य को है ?
 अभाव से क्या गुण निश्चिता के
 अलब्ध संमान सुयोग्य को है ? ॥ २६ ॥

अपूज्य ही पूजित हों जहा भी
 ही पूज्य के पूजन का अभाव ।
 निपत्ति है नित्य वहीं दिखती
 अनीति का भीषण कुप्रभाव ॥ ३० ॥

क्या आप के पास नरेन्द्र । कोई
 रुदापि ऐसे गल हूँ न आते ?
 जो अन्य के होकर कर्ण-लग्न
 हैं अन्य का नाश वहीं कराते ॥ ३१ ॥

क्या भोग-वृष्ट्या मृगवृष्टिका सी
 है आप के मानस को लुभाती ?
 अनार्य शीला विषय प्रसक्ति
 किसे नहीं दुर्गति में गिराती ? ॥ ३२ ॥

आरम्भ में ही निज शत्रुओं को
 हैं युक्ति से क्या प्रशंसा में न लाते ?
 क्या अन्त में आमय सा असाध्य
 प्रमाद से हैं उनको बनाते ? ॥ ३३ ॥

हो देगते क्या निन-शेष को भी
 हैं शत्रु पाते निससे प्रवेश ?
 क्या अतप भी छिद्र नहीं कराता
 सुपोत मे भी जल का प्रवेश ? ॥ ३४ ॥

जो आप की शास्त्र-जलाभिषिक्ता
 है शील संमार्जित युद्ध बुद्धि ।
 साम्राज्य के दुस्त्यन गर्व से है
 धाती नहीं क्या उसमे अशुद्धि ? ॥ ३५ ॥

है दुर्गुणों की निधि राज-लक्ष्मी
 विज्ञात है क्या इसका स्वभाव ?
 क्या आप के कोमल चित्त मे भी
 है दुर्गुणों का इसके प्रभाव ? ॥ ३६ ॥

अनादि से ही इसने किया है
 कृपाण वारा पर ही निरास ।
 इसीलिए तो इसके भरा है
 मर्वाङ्ग मे निःशुभता विलास ॥ ३७ ॥

है मद्य ने मादकता इसे दी
 चाञ्चल्य सीरा कपि नाति से है ।
 काली निरा से तिमिरान्धता भी
 अभ्यस्त मानों बहु भाति से है ॥ ३८ ॥

न देखती है तप शील विद्या
 न जाति को ही पहिचानती है ।
 नहीं किसी के गिनती गुणों को
 न धर्म को ही यह मानती है ॥ ३६ ॥

है मायुता की यह उध्य शाला
 मूर्छाकरी सी त्रिप-मञ्जरी है ।
 है पाप जिह्वा यह धर्म भञ्जी
 नागी यही मत्सर से भरी है ॥ ४० ॥

कहीं कभी है यह दृश्य होती
 मन्ध्याभ्र रेखा क्षण-रागिणी सी ।
 है अह्न के मानस की नितान्त
 उन्मादिनी उग्र पिशाचिनी सी ॥ ४१ ॥

मनेत्र को अन्ध वहीं बनाती
 सत्रर्ण को भी त्रधिरानुगामी ।
 सहस्र को अन्य-कर-जलम्बी
 सपाद को भी पर-कन्ध-गामी ॥ ४२ ॥

अधीत को भी मतिमन्द कामी
 यही अनार्या जड़ है बनाती ।
 आत्रान्त को धीमद रोग से है
 कुपय्य की बात विगेष भाती ॥ ४३ ॥

दिवान्ध सा गवित सम्पदा
 प्रदीप को है कहता प्रमात ।
 न चेतता है वृण विदु जैसे
 अरश्य भावी अपना निपात ॥ ४३ ॥

असाधु को माधु, असत्य सत्य,
 अन्याय को न्याय निहारता है ।
 अरु को वर, अमित्र को भी
 अज्ञान से मित्र प्रिचारता है ॥ ४४ ॥

अमान्य ही आर्य परम्परा का
 म्बच्छन्द आहार तथा पिहार ।
 स्वधर्मशास्त्र श्रुति का विरोधी
 है उच्च होता उसका विचार ॥ ४५ ॥

प्रतारणा से इस चचला के
 है जो सदा सज्जन को वचाता ।
 वही सदाचार विशुद्ध माव
 क्या आप का धर्म नहीं निभाता ? ॥ ४७ ॥

बुदुम्ब के रक्षण में बुदुम्बी
 विस्तान जैसे वृषि पातने में ।
 क्या लान हैं आप उसी प्रकार
 स्वदेश को नित्य सँभालने में ? ॥ ४८ ॥

सुप्रेम है कोमल भी महास्त्र
 यही बली है नृप को बनाता ।
 प्रदीप जैसे मृदु वर्तिका से
 है अन्य का स्नेह सदैव पाता ॥ ४६ ॥

क्या आप की दण्ड-कठोरता के
 अन्याय से पीड़ित है न नेश ?
 निज प्रजा पीछन-जन्य अग्नि
 नृपाल को है रगती न शेष ॥ ५० ॥

अपक लेता फल वृक्ष से जो
 है बीज खोता रस भी न पाता ।
 सुखार्त भी जीवन को प्रजा के
 असह्य भारी कर है सुगता ॥ ५१ ॥

अन्याय से हैं कर जो बढाते
 अनेक हैं शुल्क सदा लगाते ।
 अनार्थ तेसे नृप नाम-धारी
 झुलीन भी राक्षस हैं कहते ॥ ५२ ॥

क्यों आपके आनन चन्द्रमा को
 मैं देखता हू त्रिगा प्रमाद ?
 कहे, नहीं हो यदि गोपनीय
 क्या आप ने है मन मे रिपाद ? ॥ ५३ ॥

उपान्त मे सान्त बनोपमान
 प्रदान्त में मौन हुए मुनीन्द्र ।
 स्पर्धीय वृत्तान्त नितान्त दुःखी
 बोला विनीत स्वर से महीन्द्र ॥ ५४ ॥

महामुने । निन्दित दुःखों से
 मुझे बचाता तप आप का है ।
 तपोनिधे । दर्शन ही तुम्हारा
 त्रिकाल मे पापक पाप का है ॥ ५५ ॥

नीरोग है यद्यपि देह मेरा
 भूदेव । तो भी कुशली नहीं है ।
 अनार्य विध्वंसक दान्यों से
 तिलुप्त होता जत्र देश ही है ॥ ५६ ॥

विध्वंसकों के अभियान से ही
 है राज्य ने छिन्न समस्त अंग ।
 हुआ हमारे निज र्ग के ही
 कुचक्र से शासन चक्र भंग ॥ ५७ ॥

जहा सदा से प्रिय था प्रजा का
 स्वधर्म-रक्षा रत आर्य-राज्य ।
 वहीं स्वधर्म-च्युत आर्य ही है
 बुला रहे क्रूर, अनार्य राज्य ॥ ५८ ॥

मिले रहे लोलुप दस्युओं से
 अनेक मामन्त विचारमूढ ।
 न चातुरी जान सकी चरों की
 कुचक्र भारी उनका सुगूढ ॥ ५६ ॥

न देश के मंचित कोप ही को
 अनर्थकारी अपना रहे है ।
 स्वदेश को एक अनार्यता के
 प्रवाह में आप बहा रहे है ॥ ६० ॥

सुदूर से भारत में असभ्य
 निशाचारों का दल आ गया है ।
 प्रकाश में ही दिन के अभीत
 महानिशा का तम छा गया है ॥ ६१ ॥

अराण्ड में ही निन-राज्य भंग
 मुझे नहीं दुःखित है बनाता ।
 अधर्म, धर्म धर्ममयी धरा में
 प्रवेश है मानस को तपाता ॥ ६२ ॥

कहीं कुसंस्कार अनार्यता का
 करे न वर्णाश्रम का विनाश ।
 न हों कहीं संस्कृत भारतीय
 स्वधेय भाषा तज अ य दाम ॥ ६३ ॥

न भूत चारों हम पूर्वजों की
पुरातनी विश्रुत गीर-नीति ।
उपाय कोई हम भाति का हो
रहे मदा गुजित देश-नीति ॥ ६४ ॥

अभाग्य से संकट-काल में है
बिरी दुः खोर यहाँ निराशा ।
है आप के निज्य तपोमलों से
उद्धार की केवल एक आशा ॥ ६५ ॥

आमान है भारत दानवों से
वृत्तान्त था यद्यपि कर्ण दाही
तथापि अक्षोभ्य युव-रत्नभार
हुआ क्षण ध्यान-तलागही ॥ ६६ ॥

एकामता में स्थिर नेत्र-नारा
अव्यग्रता में मुख पद्मज श्री ।
मुनीश की बुद्धि कुशाग्रता में
समा गई भारत की जयश्री ॥ ६७ ॥

बोले पुन, भूप । तजो निराशा
सर्वेदयरी है सब की सहाय ।
किया नहीं है कच भूसुरों ने
स्वदेश के रक्षण का उपाय ? ॥ ६८ ॥

उत्साह से सगति आप राजन ।
करें इसी आश्रम मे निवास ।
है आप मे सत्य परार्थ-निष्ठा
अवश्य होगा सफल प्रयास ॥ ६६ ॥

न विन्न हों तुच्छ पराजयों से
न लोक निन्दा दसभ प्रचारें ।
प्रपत्ति कालोचित-धीरता से
क्षमापती वेतन नीति ररें ॥ ७० ॥

प्रवात का वेग प्रचण्ड भी ली
पिशाल भी है तरु को गिराता ।
उसे क्षमाशील विनम्र रेंत
सुनीति से निष्फल है बनाता ॥ ७१ ॥

विना क्षमा कार्य-विनाशिनी है
- प्रदेशकालज्ञ भुजंग-नीति ।
नीतिज्ञ को ममत भी नहीं है
उत्साह से अग्नि पतंग-रीति ॥ ७२ ॥

कभी दया-सत्य मृदु-स्वभावा
कदापि हिंसा-छल-गोर-रूपा ।
होती सदा है यह राजनीति
शराङ्गना-सुलभ अपने-रूपा ॥ ७३ ॥

प्रकार के पूर्ण मृगेन्द्र की सी
 स्व नीति मेधा मुनि ने सुनाई।
 टपाल के शांत विचार म भी
 वही महा उत्तम नीति आई ॥ ७३

कुलपति नृप के संवाद में साक्षिणी सी
 त्रिगत प्रद हुई है यामिनी याम मात्र।
 यह नृपति बना है पर्णशाला निवासी
 अखिल मुनि जनों का प्रीति-समान-पात्र ॥ ७४ ॥



सप्तम सर्ग

भवन मे अथवा वन मे रहे
चिर कहों सुख मभन शान्ति का?
प्रतिकूल क्षण हे इम त्रिदिव मे
कुड्ड मिलक्षण बीज अशान्ति का ॥ १ ॥

सुरथ को निच राज्य अशान्त से
प्रिय लगी वह शान्त वन-स्थली ।
अलग थी न कहीं वृष-रंक की
विषम मानवता जिसमे पली ॥ २ ॥

वस विशाल तपोवन भूमि के
भुवन-भावन पावन देश में ।
विमल आर्यसरोवर एक था
प्रकृति के रमणीय निवेश मे ॥ ३ ॥

हृदय सा जल यद्यपि एक ही
 भरित था उस आर्य तडान में ।
 पर चिरन्तन चार सुघाट भी
 रचित थे उसके तट भाग में ॥ ४ ॥

मत्त निर्भय ये रमते रहों
 सुदित-चित्त मराल मरालिका ।
 सुस्मित जीवन की कहते कथा
 विचरन सुख से शुक शारिका ॥ ५ ॥

सुरभि नूतन नूतन पुष्प के
 रसिक राग भरे मधु पान में ।
 मिल मधुमत्त मत्त मधुमत्ता
 निरत थे रहते सह-गान में ॥ ६ ॥

प्रणयिनी प्रणयोत्सुक हर्ष से
 प्रनुर चरिण बह पसारता ।
 हरिण भंग लिए हरिणी बहा
 निरत में सुद्र मुग्ध विचारता ॥ ७ ॥

पिक-बधू प्रनुरता पुनारती
 निरत कोटिल को महद्वार से ।
 प्रियुक्त पाण्डु में प्रिय पातरी
 'प्रिय वदो वदती उन्न शर से ॥ ८ ॥

धरित सी तरुणी जय तीर मे
 अनिल-धरित हो चलती लता ।
 म्रजन मा उमके अवलम्ब नो
 मर-तरंग तडाग उभाडता ॥ ६ ॥

प्रकृति नित्य बहा नययीरना
 अधिक गरित रूप-मुहाग से ।
 चतुर सी निन अग संवारती
 रलित कोमल पल्लव राग से ॥ १० ॥

व्यथित भी मन को मिलती बहा
 बुद्ध अलौकिक सी धनुषूलता ।
 धमण हेतु बहा पर नित्य आ
 प्रियता ताप महीपति भृताता ॥ ११ ॥

बुद्ध दिनों तर ही सुन का यहाँ
 यह नरेश्वर भावन हो सका ।
 गदा भी यह राग न पान से
 न चिरकाल तिरोहित हो सका ॥ १२ ॥

बुद्ध अनिष्ट रदा भविष्य ही
 मुक्तिन आर्य-सरोवर देश का ।
 इदिल देग तापा न मृतान्त भी
 सुख यहाँ पर देश नरेश का ॥ १३ ॥

निज सुखप्रद शान्त निवास में
 द्विज रहे सब निद्रित से पडे ।
 घुस किसी ड्रल से कपटी वही
 कुञ्ज अतर्नित शूकर आ पडे ॥ १४ ॥

म्वल पराह लगे मिल सोदने
 उस तपोवन की सहसा धरा ।
 चिरपनित्र कई मुर वेदियों
 बन गयीं वा शूजर-कन्दरा ॥ १५ ॥

तट सुरक्षित थे न तड़ाग के
 कमल सूर्य चले मन रक से ।
 विमल भी जल दूषित हो चला
 प्रशुचि कोल-शरीरज पत्र से ॥ १६ ॥

हर मके न असंग्य पराह भी
 उस महीतल की जन संपदा ।
 नियति ने ड्रल से तब अच भी
 नियत मी पर दी बुञ्ज आपदा ॥ १७ ॥

भर गये कापि आकर दूर से
 उपनिवेश घहाँ अपना रचा ।
 चिर-धुमुक्षित वे फल रा चले
 हरित केवल कानन था बचा ॥ १८ ॥

भ्रमर भूल गये निज भावना
 शुक हुए रत वानर-वाद मे ।
 अरुचि किन्तु रहे बुद्ध हंस ही
 उम अमस्कृत घर्घर नाद मे ॥ १६ ॥

अप्रश देग्य चला उम भूमि को
 नृप अमज्जित मायक-चाप से ।
 स्थगित आहत ना हतभाग्य से
 हृदय दग्ध हुआ परिताप से ॥ २० ॥

दूषित जेल उठा अभिमान मे
 इस तपोवन की यह दुर्दशा ?
 हतयिघे । फल तू किन्म हेतु से
 यह सुदेश रसातल में धँसा ? ॥ २१ ॥

स्मृत हुई उम दूषित तीर्थ से
 तिन अतीन पराजय की क्या ।
 अरि-सुगम-विरस्तृत देश की
 दुमह जाग उठी अनित व्यथा ॥ २२ ॥

प्रयत्न आग निर-स्मृति से नई
 तृपति के उर में जलने लगी ।
 बिर-नियन्त्रित भी अति धैर्य मे
 नरि तरंग यथा चलने लगी ॥ २३ ॥

गगन मा अति निर्मल चित्त भी
घिर गया घन शोक विकार से।
प्रिमद भी प्रतिभा रवि-कान्ति सी
हत हुई घिर मोह-तुपार से ॥ २४ ॥

मन हुआ अभिभूत ममत्व से
हत मही-उल-कोप-पुरादि के।
नृप लगा वह चिन्तित सोचने
विषय मे गृह-भृत्य-गजादि के ॥ २५ ॥

नगर जो वह पूर्णवृन्द के
सतत पालित था शर-चाप से।
ना रहा असमर्थ अनाथ है
पुर वही किसके अब पाप से ? ॥ २६ ॥

सब रहा रिपु के वश मे पडा
प्रिय सदाभद वारणराज है।
रस महागन की चिरकाल से
कुशलता उपलब्ध न आज है ॥ २७ ॥

प्रचुर वेतन पाकर भृत्य जो
अनुग हैं नृप के निज-देश के।
वन रहे अत्र वे कपटी न हों
कृपण जीवन भृत्य विदेश के ॥ २८ ॥

नृपति के गृह में इस देग का
चिर-सुरक्षित जो वह कोष है ।
सब अपव्यय से अपने लिए
कर रहे उमका अब शोष है ॥ २६ ॥

त्रिकल हो इस भोति विषाद से
नहज-धैर्य बरापति लो चला ।
विधि त्रिदन्त्रित कानन भूमि से
नुभिद-मानस प्राथम को चला ॥ ३० ॥

पुरुष एक नहीं मुनि-धाम के
निरुद्ध या उपविष्ट विराग से ।
हृदय-दुःख मिला सम-दुःख से
मनुज मानव के अनुराग से ॥ ३१ ॥

उस नयागत देख विराग को
विनय से विनयी नृप ने कहा ।
भ्रमण हो परते किस हेतु से
पुष्प भद्र । तपोवन में यहाँ ? ॥ ३२ ॥

पिहित हो किस कारण शोक में
रिगत-गर्भ । कहो तुम वैन हो ?
किमिति दीख रहे अति दुर्मता
गुन रहे मन में कुछ मौन हो ? ॥ ३३ ॥

द्रवित होकर के प्रिय उक्ति से
 वह कथा अपनी कहने लगा।
 निकल अन्तर लोचन-युग्म से
 सलिल के मीप से वहने लगा ॥ ३४ ॥

धनिक प्रशज वैश्य कुलीन हूँ
 प्रिटित यद्यपि नाम समाधि है।
 पुरुषपर्ये । विना धन लोक मे
 अधम जीवन एक उपाधि है ॥ ३५ ॥

तनय ही मुझसे प्रतिकूल है
 मन उपार्जित लेकर चित्त को।
 मजन मे अपमान-परपरा
 दहन सी दहती इस चित्त को ॥ ३६ ॥

अनुभवी अपने व्यग्रसाय का
 मन उदार तथा तन पीन है।
 दशन-हीन तथापि भुजंग सा
 द्रविण-शक्ति विना पल हीन है ॥ ३७ ॥

त्रिस ऊपर के तरु-जन्म से
 जगत का रहता कुछ अर्थ है।
 मृतक-देह-समान त्रिद का
 पर अविचन जीवन व्यर्थ है ॥ ३८ ॥

अपर मृत्यु अहेतु जिडम्बना
 धनिक निर्धनता अभिशाप है ।
 अधन का हत जीवन विश्र मे
 असुख भाजन केवल पाप है ॥ ३६ ॥

मलिन रासभ के पद-पङ्क सा
 जन मुझे तजते सब दूर से ।
 अब समस्त नहीं पहिचानने
 सुहृद बन्धु समग्र अदूर से ॥ ४० ॥

मन फटा गृहिणी सुत भृत्य से
 भवन भी तज कानन को चला ।
 पर नहीं इस चंचल चित्त की
 चपल वृत्ति हुई कुञ्ज निश्चला ॥ ४१ ॥

हृदय है फिर भी यह सोचता
 'बुद्ध नहीं मिलता गृह-वृत्त है'
 मन सुतों पर है रहता लगा
 'अशुभ वा उनका शुभ वृत्त है' ॥ ४२ ॥

रुग गया वह राग विराग की
 उभय भौंति सुनाकर आधि को ।
 सदय चित्त पुन नृप ने कहा
 लस विमानित मुग्ध समाधि को ॥ ४३ ॥

सदुपयोग उपार्जित वित्त का
उचित दान तथा उपभोग है।
विभव-संग्रह का परिणाम ही
विरति विग्रह-रु स वियोग है ॥ ४४ ॥

अनल से जल से छल चोर से
स्वजन मित्र तथा नरपाल से।
धनिक-जीवन है भय से घिरा
दुराल कौन बचा कब काल से ? ॥ ४५ ॥

धन नहीं नर जीवन-लक्ष्य है
भुवन में गुणज्ञान महान है।
कनक भूषण से गृहपाल भी
कब हुआ सृगराज समान है ? ॥ ४६ ॥

विमुक्त होकर के गुण पक्ष से
कृपण ही बनते धन-दास हैं।
पर उसी धन अस्थिर के लिए
पठित होकर आप उदास हैं ॥ ४७ ॥

यदि कलत्र तथा सुत वित्त ही
अहित दुःख-परामत्र हेतु हैं।
कठिन बन्धन बन्धु ममत्त्र का
तय रहा मन में किस हेतु है ? ॥ ४८ ॥

अबुध औरस जो धन लोभ से
जनक का करते अपमान हों ।
उन सलों पर भी निज पुत्र का
किसलिए किसको अभिमान हो ? ॥ ४६ ॥

सुरथ के इस दाम्भ्य उदार से
वह समाधि अनुत्तर सा रहा ।
कुट्ट प्रिचार किया उमने पुन
अवशता अपने मन की कहा ॥ ५० ॥

कथन सुन्दर यद्यपि आप का
निगम नीति-निरूपित तथ्य है ।
इस असाध्य कुमानस-रोग में
पर नहीं रचता यह पथ्य है ॥ ५१ ॥

बह नहीं सकता किन् हेतु से
हृदय में यह दारुण मोह है ।
चिर हुआ परिगृत कुटुम्ब से
पर असह्य कुटुम्ब-विच्छेद है ॥ ५२ ॥

न कर मे धन, मान न वन्दु मे,
तनय निष्ठुर दार तिरक्त है ।
बह नहीं कुट्ट कारण दीप्तता
किमिति चित्त उहीं पर रक्त है ? ॥ ५३ ॥

अतिथि के इस चित्त विकार का
जन्म निदान हुआ न नरेश से।
तब अरोग उसे करने चला
शरण में गुरु के उपदेश से ॥ ५४ ॥

अथ यथोचित उत्सुक भाव में
हृदय की निज लेकर वेदना।
गुरु तपोनिधि से नृप ने क्रिया
विनय से इस भाति निवेदना ॥ ५५ ॥

गुणनिधे ! यदि हूँ यह जानता
हूँ हुआ पुर देश नृपत्न है।
यह तथापि उसी गत वस्तु में
अब रहा किस हेतु ममत्न है ? ॥ ५६ ॥

जब तिरस्कृत पुत्र कलत्र से
तज दिया इसने घर नार है।
पर नहीं तजता इस साधु को
किसलिए तब मोह विकार है ? ॥ ५७ ॥

मनुष्य भी हम है, पशु तो नहीं
पशु विमोह तथापि समान है।
निमु अविज्ञ हुण, हम विज्ञ भी ?
यह उपस्थित प्रश्न महान है ॥ ५८ ॥

हम मचेत अनिद्रित गान्त है
 बुद्ध शुभाशुभ मान अदृश्य है ।
 किस अलक्षित कारण से सभी
 चल नहीं रहता मन यद्य है ? ॥ ५६ ॥

मुन लिया मुन से गुरुदेव ने
 प्रिय संशय शिष्य विशेष का ।
 उचित मान लिया प्रिय भाव से
 परम पात्र उसे उपदेश का ॥ ६० ॥

प्रिय अधिक जहाँ है ज्ञानियों की तपस्या
 व्यथित कर रही है वैश्य को प्रिय माया ।
 चल-भक्ति समता में मग्न है देश-नेता
 अमुर दल यहाँ हो क्यों नहीं घोर छाया ? ॥ ६१ ॥

हो चले सत्र दृश्य उनको मोह मे गत जीव ऐसे
हो पडे घट के उदर मे प्रज्वलित मणि दीप जैसे ।
भ्रान्त थे अज्ञान मे वे शान्त सुन्दर निर्विकारी
भानु के जैसे करों पर हो पिरा नीहार भारी ॥ ४ ॥

ब्रह्म चिन्मय शुद्ध मे माया लसी गुण रूपिणी थी
इन्द्र चाप-व्योति सी वह भासती बहुरूपिणी थी ।
वह विलक्षण थी अविद्या भ्रान्ति मिथ्या मात्र मन की
दूर ही से दीप्तती थी नीलिमा जैसे गगन की ॥ ५ ॥

पर उसी अज्ञान मे ही ज्ञान भी था भासमान
कृष्ण घन के मध्य मे अवरुद्ध विद्युत् के समान ।
क्यों असभव मोह-तम के साथ ही ज्ञान-प्रकाश ?
जल मे भी विरोधी अग्नि है करती निरास ॥ ६ ॥

दिन्य मुक्ति की दृष्टि मे तो भिन्नता ही कुछ नहीं थी
विद्वज्जननी शक्ति ही सर्वत्र एक समा रही थी ।
उस महामायेद्वारी को ध्यान मे ही चन्दनाकर
विप्रवर बोले नृपति के प्रदत्त का अतुरूप उत्तर ॥ ७ ॥

ज्ञान तो सब देहधारी जीवगण मे एक सम है
किन्तु उनके इन्द्रियों मे योग्यता रहती विषम है ।
धूक और उलूक मे देखो विशेष दिवान्धता है
कीश-काक-कपोत मे कैसी विशेष निशान्धता है ॥ ८ ॥

व्याघ्र-सिंह-त्रिपाल की गोंदें पिलक्षण दीवती हैं
 रात में दिन में सदा वे एक सा ही देखती हैं।
 एक मात्र मनुष्य ही तो विश्व में ज्ञानी नहीं है
 ज्ञान तो पशु-पक्षियों में मानवों के तुल्य ही है ॥६॥

मोह भय विद्वेष निद्रा दुःख सुख नरम भरे हैं
 जो हमारे भाव कुछ हैं वे नहीं उनसे परे हैं।
 क्या नहीं ज्ञानी विह्वल चञ्चु से हैं वीन लात
 भ्रूस सह लेत स्वयं हैं किन्तु सतति को रिलताते ॥ १० ॥

ज्ञान-गणित भी मनुज सन्तान अपनी पालता है
 ध्यान रम उत्तम सदा ही कष्ट निज पर डालता है।
 पुत्र बनकर योग्य यह निज प्रश को उज्ज्वल करेगा
 मातृकर आशा विनय से जन्म भर सेवा करेगा ॥ ११ ॥

चित्त में इस भाँति बहुधा मोह या आशा छिपाये
 हैं नहीं ज्ञानी यहा क्या मोह पन्धन में बँधाये ?
 पत्स पर है वह तिरलती धेनु की जो स्नेह-धारा
 क्या कहीं मिलता कभी है पुत्र से उसकी सहारा ? ॥ १२ ॥

किन्तु माया शक्ति जो ससार में अति बलवती है
 प्राणियों के मोह का कारण वही श्री भगवती है।
 सर्व जीवों को दया से पुत्रवत् वह पालती है
 किन्तु मायास्वपिणी अज्ञान में भी डालती है ॥ १३ ॥

योगमाया का धारक वह मोह-व-मन-तन्त्रुओं को
 दारु-पुतलों को नष्ट करती है नष्ट करती ज-तुष्टों को ।
 अज्ञ जीवों को उद्दीष्ट है मोह-सागर में गिराती
 घोर ममता-वर्त में भी है उद्दीष्ट रहती घुमाती ॥ १४ ॥

ज्ञानियों के चित्त को भी शक्ति से है नीच लेती
 है यही विद्या को भी मोह ने गति नीच देती ।
 सृष्टि से इन विद्वान का विस्तार उमने ही दिया है
 भक्त जन पर तुष्ट हा वरदान भी उसने दिया है ॥ १५ ॥

एक वह केवल नहीं भव हेतु बन्धन दायिनी है
 आत्मविद्या भी परा वह जीव गुण विधायिनी है ।
 विद्वान ही उस विद्वान-मा के गर्भ में सोया हुआ है
 आप का इस हेतु से विज्ञान-वल सोया हुआ है ॥ १६ ॥

भूप ने पूत्रा प्रभो ! वह कौन देवी भगवती है
 आप बतलाते महामाया जिसे अति उदासी है ?
 जन्म है किम भाति पाया कर्म क्या उसने किण है ?
 भक्त को वरदान उसने क्या कहा कैसे दिये है ? ॥ १७ ॥

श्री सुमेधा ने कहा वह शुद्ध शक्ति महेश्वरी है
 सर्वगत सर्वादि सर्वाधार पर सुवनेश्वरी है ।
 नित्य अजरामर अमूर्त अमूल एक अरूपिणी है
 सत्य पूर्ण अनाद्यनन्त अचित्य चैतनरूपिणी है ॥ १८ ॥

शाश्वती अव्यय अजा अव्यक्तशक्ति सनातनी है
सर्व पर चर-अचर-कारण बीजभूत पुरातनी है।
इन्द्रियों से है परे प्रदा वहाँ जाती नहीं है
दूर है मन से गिरा से भी वही जाती नहीं है ॥ १६ ॥

स्वप्न जाग्रत् घोर निद्रा-वृत्ति में आती नहीं है
तर्क सगत युक्तियों उसको कहीं पाती नहीं है।
ज्योति सर्व व्यापिनी वह दिव्य-रूप विराजती है
चन्द्र तारा अग्नि रवि में एक ही वह भासती है ॥ २० ॥

है सदा अप्रिमाणि गत में भविष्यत् में वही है
है न कुछ उससे अधिक, उसकी नहीं उपमा कहीं है।
विद्यमान स्वभाव से उसमें क्रिया विज्ञान बल है
विश्व रूप अनादि तरु के मूल का अज्ञात तल है ॥ २१ ॥

नाम-रूप-विहीन उसमें भेद है सत्र लीन रहते
सृष्टि से पहले उसे ही आर्य है अव्यक्त कहते।
शुभ वही वृष्टस्थ अक्षर अद्वितीय परा प्रकृति है
विश्व सृष्टि स्थिति जिल्य की हेतु वह अपरा प्रकृति है ॥ २२ ॥

मन अद्वैत बुद्धि-वायु-जलाग्नि नभ का रूप धरती
अष्टधा होकर वही है विश्व का निर्माण करती।
सत्त्व रज-तम रूप से वह भिन्न यद्यपि भ्राजती है
ज्ञान से हेतु उसे ही एकरूप विराजती है ॥ २३ ॥

एक विस्तृत भूमि पर जो भिन्न तरु होते सघन हैं
 क्या नहीं उनमें वही सर्वत्र व्यापक एक मन है ?
 कटक कुण्डल भूपणों में मान होती भिन्नता है
 एक हाटक दृष्टि से क्या अग्रतीत अभिन्नता है ? ॥ २४ ॥

एक ही है विद्य का वह मूल और निमित्त बनती
 क्या नहीं लूता अकेली जाल तन्तु अनेक तनती ?
 एक उस अव्यक्त में ही विद्य की उत्पत्ति लय है
 व्यक्त है जो मध्य में वह भी सकल अव्यक्तमय है ॥ २५ ॥

कार्य वह ससार सारा है उपादान स्वरूप
 है सभी मृत्पात्र केवल मृत्तिका के भिन्न रूप ।
 बुद्धिगत वह चेतना ही जीव का है नाम पाती
 एक ही प्रत्येक घट में भातु-छाया सी दिखाती ॥ २६ ॥

भिन्न देहों में समानर भिन्न सी होती वहीं है
 भिन्न जैसे भिन्न तरु में एक वारिद-नीर ही है ।
 प्राण इन्द्रिय बुद्धि मन भी है उन्नी से जन्म पाते
 किन्तु जननी को नहीं वे गर्भ शिशु हैं जान पाते ॥ २७ ॥

व्यक्त अस्थिरता जगत की स्थिर उसी आधार में है
 भूमि अचला से नदी का ज्ञात चलना धार में है ।
 उस अलक्षित सत्य में ही विद्य का है मान होता
 क्या न रस्सी में उरग का भ्रान्ति में है ज्ञान होता ? ॥ २८ ॥

है वही नागी पुरुष में देव दानव में वही ह
दीर्घ लघु रात्र जन्तुओं में चेतना वह एक ही है।
जाति आकृति भेद तो यह देह मात्र उपाधि में है
एक ही आकाश जैसे भिन्न भिन्न घटादि में है ॥ २० ॥

आत्म माया से रचित इस विश्व में ही वह छिपी है
जीव जोति अनादि से तो भी अप्रिया में लिपी है।
बुद्धि में विधि की वही विज्ञान विद्या शारदा है
नित्य सर्वाश्चर्यमय मसार-सृष्टि विशारदा है ॥ २१ ॥

काम नाशी शम्भु की वह ब्रह्म विद्या ही उमा है
वीरता में विष्णु की वह विश्व की रक्षा रमा है।
आविर्दैविक रूप से वह एक सर्वस्वामिनी है
प्राणियों के भी हृदय में नित्य अन्तर्यामिनी है ॥ २२ ॥

देखती है जीव को वह आत्म दिव्य ज्ञान बल से
देखता प्राणी न उसमें अन्ध है अज्ञान मल से।
जीव के उसने बहिर्मुख इन्द्रियों को है बनाया
जीव ने अतएव निज को है न अब तक जान पाया ॥ २३ ॥

सुप्त से प्राणी चतुर्विध विश्व परिधि में पडे हैं
किन्तु पारर तीर भी नर भ्रान्त से होकर लडे हैं।
मुक्ति-उन्नति की विलक्षण योग्यता इनमें निहित है
मूढता से अन्ध हैं करते तथापि न आत्म हित ह ॥ २४ ॥

सृष्टियों कितनी हुई कितने प्रलय भी हो चुके हैं
दासता से मुक्ति का कितना सुअरसर सो चुके हैं ।
आर्य-मति विद्वान भी तो मन्द कैसे हो रहे हैं
भूल सत्र विद्वान अपना जो निशा मे सो रहे हैं ॥ ३४ ॥

उष तज आचार नर का, पूर्ण पशुता पा चले हैं
सीप खाना शूकरों से शुचि अशुचि सब खा चले हैं ।
रफ पीकर दूसरों का जोक मोटे से घने हैं
जाति-शत्रु परोपजीवी हो चुके कुत्ते घने हैं ॥ ३५ ॥

छद्म से मुनि वेपधारी तीर्थ मे भी बक बहुत हैं
अन्य के संकेत पर भी कीश कितने नृत्य रत हैं ।
हैं कई नर-देह मे भी दीन अज-जीवन पिताने
जो अनायों के लिये परतन्त्र है त्रिज सिर कटाते ॥ ३६ ॥

गीर केवल जो विलों मे मत्त मूपकराज भी हैं
प्रस पिंगल-लोचनों से क्या नहीं वे आज भी हैं ?
ये यहा नरमिह पहले आज नरजबुक बसे हैं
देश मे आर तभी तो दुष्ट शूकर कपि धँसे हैं ॥ ३७ ॥

आन रण मे अज्ञ ही हैं ज्ञान की गीता सुनाते
आततायी दानों को बन्धु हैं अपना बताते ।
आर्य भू पर जन्म यह सत्कर्म करने के लिए है
आर्य जीवन निश्च का उद्धार करने के लिये है ॥ ३८ ॥

किन्तु मानव वर्ग से हम हो चले कितने विमुख हैं
देश का हो नाश चाहे देखते निज देख सुख हैं।
राष्ट्र के विध्वंस में भी दस्यु-दल के साथ ही हैं
मूढ़ करते नाश अपना आप अपने हाथ ही हैं ॥ ३६ ॥

हैं असुर करते यहाँ जो आसुरी अपना प्रचार
क्यों न पत्नी पुत्र के हों देश में कुत्सित विचार ?
यह नहीं सम्बन्ध केवल एक मात्र समाधि से है
नाश सारे देश का ही भासता इस व्याधि से है ॥ ४० ॥

शक्ति से है मुक्ति सभव मूल उसका जागरण है
दुर्बलों को दुःख में तो एक दुर्गा ही शरण है।
आततायी दानवों का, है वही संहार करती
दूरर कामादि रिपु भी साधु का उद्धार करती ॥ ४१ ॥

आसुरी अन्याय का है जत्र जगत पर भार होता
दिव्य उसके अशक्त है तब यहाँ अत्रतार होता।
लोक में उत्पत्ति उसकी मानते बहु भोंति नर हैं
है नहीं उत्पन्न यद्यपि नित्य यह अव्यय अमर है ॥ ४२ ॥

उम अलौकिक शक्ति के ही नाम से हैं तीन भेद
एक ही होता विधा जैसे यजु ऋक् साम वेद।
है महाकाली प्रथम वह योगमाया भी कहाती
त्रिदवस्त्री विष्णु की जो योगनिद्रा में सुलाती ॥ ४३ ॥

कर्म-शैशल योग का है विद्य में जन नाश करती
 है अविद्यारूप तब यह योगनिद्रा नाम धरती ।
 सृष्टि के आरंभ में था त्रिप्पु को हमने जगाया
 मत्त मधु-वैटभ रत्नों से प्रस्त धाता को उचाया ॥ ४४ ॥

मर्षदा है भक्त को यह गूढ़ निज महिमा दिग्गामी
 दीन भी असहाय जन को दुजनों से है बचाती ।
 दूसरा है रूप उसका श्रीमहालक्ष्मी जगत में
 आधिभौतिक शक्ति है यह संगठन में एकमत में ॥ ४५ ॥

विद्यरूपी त्रिप्पु की है संगठित यह सघशक्ति
 राष्ट्र की रक्षक यही है त्रीरता घन सैन्य शक्ति ।
 विद्य में महिषामुरी जब दैत्य का दल छा गया था
 आसुरी अधिकार में जन स्वर्ग भूतल आगया था ॥ ४६ ॥

देव-कुल की शक्ति को तब एकता में आ जगाया
 है वहीं इस चण्डिका ने सघवल से जन्म पाया ।
 वीर-वंशज सिंह पर है शक्ति यह चण्डी विचरती
 दुष्ट दानव मर्दिनी है दानवों का दर्प हरती ॥ ४७ ॥

तीसरी विज्ञानमय अध्यात्म शक्ति सरस्वती है
 बुद्धिबल उत्साह त्रिद्या योग में यह भासती है ।
 शुभ और निशुभ के सुर भीत जब आतंक से थे
 दुःख से निज देश में भी दीन और सशक-से थे ॥ ४८ ॥

एक दिन वे जाहरी के तीर में आये नहाने
संमिलित होकर वहाँ थे एक चण्डीयज्ञ ठाने।
मंत्र देवीसूक्त का मंत्र एक स्वर से गा रहे थे
माथ ही सत्र देशमासी आत्म-दुःख सुना रहे थे ॥ ४६ ॥

हो चलीं शुद्धित दिशाएँ दिव्य मुनकर देववाणी
देवियों के मध्य में से पार्वती प्रकृती भवानी।
शत्रु-सञ्चित देवियों का व्यूह था उसने बनाया
शुभदल-विध्वंस करके विश्व में समान पाया ॥ ४७ ॥

शक्ति के ये दिव्य मौलिक भेद यद्यपि तीन ही हैं
किन्तु शक्ति अनन्त है उमरी नहीं सरया कहीं है।
तीन जो सुन्दर उरी के हैं चरित्रों की कथाएँ
ध्यान से लनको सुनो, सत्र दूर हीं मोह व्यथाएँ ॥ ४८ ॥

सुगम-मरस-भाषा-अन्द-माधुर्य-धारी
अमुर-अदनकारी विश्व-संतापहारी।
असुग्न भय निराशा मोह तन्द्रा-विनाशी
यह त्रिसद वथा मंदर्भ हैं शक्ति भामिनी ॥ ४९ ॥

नवम सर्ग

प्रथम चरित्र

युगों तक जो कुत्र भी जागी
किया करती है अतुसन्धा।
क्षणों में कर नेता है रात
प्रलय में ही उसका आमान ॥ १ ॥

कभी विधि की सन्ध्या में एक
भयकर आई काली रात।
हृन्ना यह तिमिरावृत मंसार
अलक्षित तर्क शून्य अज्ञात ॥ २ ॥

चराचर विस्तृत सारा विश्व
जिसे कहते हैं विष्णु विराट्।
योग निद्रा से हो अभिभूत
लगा मोने वह सुर सम्राट् ॥ ३ ॥

जहाँ पहले थे उन्नति-योग
 कला कौशल साहस विज्ञान ।
 समय की गति में थे अन शेष
 वहाँ केवल निद्रा अज्ञान ॥ ४ ॥

सहस्रों नयन हुए निस्तेज
 हजारों हाथ चरण भी व्यर्थ ।
 सहस्रों सीस तथा गुण कर्ण
 हुए सब निद्रा से असमर्थ ॥ ५ ॥

कमल भूतल के चारों ओर
 हुआ उद्भट सागर सलग्न ।
 दिवाता भी तज अपना काम
 लगा सोने मुख में हो मग्न ॥ ६ ॥

शयन करते करते विश्राम
 विताये विधि ने काल अनन्त ।
 पुन युग ने परिवर्तन शील
 किया उमरी निद्रा का अन्त ॥ ७ ॥

हुटे चिर निद्रा यद्यपि दूर
 नहीं पर दूर हुआ अज्ञान ।
 कौन हूँ क्या है निज कर्तव्य
 नहीं आया यह कुछ भी ध्यान ॥ ८ ॥

हृदय में थी उसके जो लीन
 परा वाणी प्रज्ञा प्रव्याप्त ।
 स्फुरित हो परके यह स्वयमेव
 चली होने निहा पर व्यक्त ॥ ६ ॥

क्रिया अन्तस्तल में जब दिव्य
 परा वाणी ने स्व-संचार ।
 लगा होने कुछ मानस-गाय
 अलौकिक भा उमना गुजार ॥ १० ॥

प्रणव से पूरित वह अभिराम
 श्रवण करते ही श्रुति का मार ।
 उठे हो भङ्कृत से तत्काल
 हृदय-तन्त्री के मारे तार ॥ ११ ॥

लगे चेतन होने मय अग
 मिटाकर निद्रा का अवसाद ।
 गया हर्षित रोमों में गूँज
 मत्ता सुन्दर यह समृत नाद ॥ १२ ॥

लगे सुनने का पावन राग
 निमीलित-लोचन होकर मौन ।
 गिरा के उस गायन में शुद्ध
 नहीं गु नित थी भाषा कौन ? ॥ १३ ॥

निने भे मने नारे अर्थ
 तर्कियों का या एतद् भेद ।
 अग्नि अर्थों का वाचक एव
 रहा दोनों ने नित्य अभेद ॥ १४ ॥

नदी या हर्य दीर्घं पुत्र आदि
 यदा वर्ण ध्वनि जन्य विचार ।
 उच्चरति एतेन या यद् ताद
 एव अक्षर वा गतार ॥ १५ ॥

विदित होते थे उममे वे
 विधाता के शुभ आन चार ।
 म्यः ते उममे सन प्रंग
 मयंभू ने विज्ञानार ॥ १६ ॥

गई विस्मृति आया आलोक
 हुआ वेधा को निज का मान ।
 उसी में देखा अपना बिय
 सहज तेजोमय बुद्धि निधात ॥ १७ ॥

निज स्मृति से आया जब धैर्य
 पितामह ने ली मुन की श्वास ।
 लगा होने छन्दोमय शुद्ध
 निगम का वाणी पर जल्लास ॥ १८ ॥

परावाणी-भय शब्द ब्रता
 रहा जो अन्तर मे अस्मद् ।
 प्रयत्नों मे प्रनकर वह वर्ण
 हुआ कृष्णदिग् ने उद्बुद्ध ॥ १० ॥

दिया श्रुतियों का जप अभ्यास
 हुआ उनको स्मृत कर्म ज्ञान ।
 सुने लोचन देगा तम पुञ्ज
 मलिन युग का बाला परिधान ॥ २० ॥

चम्पित गोलो—क्यों बदली सृष्टि
 उठाडा यह किन्ने सस्तर ?
 दिया दस आशाओं पर एक
 तमिन्ना ने कैसे अजिदर ? ॥ २१ ॥

उपा देरी के आकर साथ
 नहीं क्यों करता रवि आलोक ?
 प्रलय पापी के भय से भीत
 प्रकृति मे भी क्यों इतना शोक ? ॥ २२ ॥

निशा क्यों नीरव सी है मौन ?
 तिमिर विरहरे है इसके केश ।
 असित अञ्जल मे कैसा घोर
 छिपा है यह काली का वेप ॥ २३ ॥

कहा है पति इसका राक्षस ?
 कहा तारामय मुक्ताहार ?
 नहीं क्यों ज्योत्स्नार्यों से चर-
 पुा करता इसका शृंगार ? ॥ २४ ॥

बहुत कर डाले ऐसे प्रश्न
 किये भी कितने ही प्रनुमान ।
 नहीं पाया बाहर से भेद
 लगाया तब धाता ने ध्यान ॥ २५ ॥

प्रलय का देखा भीषण दृश्य
 जगत के पापों का परिणाम ।
 निकट था निगमागम का अन्त
 नहीं था शुभ कर्मों का नाम ॥ २६ ॥

विरस था वर्णाश्रम विद्वांस
 गया था बूलों में मिल धर्म ।
 रहा जीवन फल केवल मृत्यु
 मृतक-जीवन भी ये निष्कर्म ॥ २७ ॥

अलिल नर नारायण के अग
 अधिष्ठा के वश में थे सुप्त ।
 मचेतन भी चेतनता-हीन
 नलिन शुभ-संस्कारों से मुक्त ॥ २८ ॥

नयन मे निद्रा मन मे मोह
 बसा अगो मे या आलस्य ।
 द्विपे ये कानों मे भी गूढ
 उटिल कितने ही पाप-रहस्य ॥ २८ ॥

नहीं सुनने से शुचि उपदेश
 जमा था कानों मे मल-कोप ।
 उसी मल से मद और विमोह
 निफल आण दो दानय दोष ॥ ३० ॥

असुर वे ही मधु-कैटभ रूप
 निशा मे चरते थे स्वच्छन्द ।
 तिमिर मे दोनों उभ पिशाच
 बनाते थे मिलकर आनन्द ॥ ३१ ॥

किसी को मधु करके उन्मत्त
 जगा देता मद से अभिमान ।
 लगा रहता था कैटभ मोह
 यदाने मे संशय अज्ञान ॥ ३२ ॥

लपे दोनों के जब दुष्कर्म
 हुआ सहसा धाता यह क्रुद्ध ।
 कहा जाओ दुष्टो ! तुम दूर
 जगत द्रोणा यह फिर से शुद्ध ॥ ३३ ॥

नहीं है यह असुरों की भूमि
 जहाँ तक बसता है सुर-वश ।
 सुधारूँगा अपनी यह सृष्टि
 हुई है जो तुमसे विभ्रस ॥ २४ ॥

प्रलय के ठी दोनों तुम दूत
 किया है तुम ने घोर विनाश ।
 तुम्हारे ही कारण से आज
 नहीं होता है विश्व-विनाश ॥ २४ ॥

रहे सोते अब तक हम अज्ञ
 हुआ हमको है अज्ञ विन-बोध ।
 जागृति सोता है जो विष्णु
 करेगा में उसका उद्बोध ॥ २५ ॥

जगत् दूगा में सारा विश्व
 मुनाकर वेदों के गुरु मन्त्र ।
 विहित है जागृति में उत्थान
 नहीं जागृत रहता परतन्त्र ॥ २७ ॥

मिला हृदय निश्चय से उत्साह
 तगने पश्यने उपदेश प्रसाद ।
 अयनि-संज्ञ पर संज्ञयोनि
 पश्ये होकर ऊँचा हर हस्त ॥ २८ ॥

पढे चेधा ने मारे मत्र
 किया जागृति का भी आह्वान ।
 नहीं नागा पर विष्णु विराट्
 गया वढ असुरों का अभिमान ॥ ४४ ॥

लगे कहने विधि से प्रत्यक्ष
 असुर दोनों आकर सामर ।
 'कैसे देते हो यह उपदेश ?
 हमारा है नव पर अधिकार ॥ ४५ ॥

नहीं है क्या तुमको विज्ञात
 असुर कैसे होते हैं चण्ड ?
 त्वरित बैठो अत्र होकर मौन
 नहीं तो होगा दैहिक दण्ड ॥ ४६ ॥

नहीं दण्डों से धे भयभीत
 गद्दा तो मी ब्रह्मा ने मौन ।
 यही उनको चिन्ता थी एक
 जगायेगा जीवों को कौन ? ॥ ४७ ॥

हनारों आसों पर से घोर
 हटेगा कैसे निद्राभार ?
 करेगा कैसे विष्णु विराट्
 तमीचर असुरों का संहार ? ॥ ४८ ॥

धरों पर तू ही त्रिदु विसर्ग
 नदा आधी मात्रा है रम्य।
 तुझे मुख मे कट सन्ता कान
 किनी मानम नी तू अगम्य ॥ ५४ ॥

तपोमय तू सन्ध्या जन-यन्त्र
 त्रिदित सावित्री तू श्रुतिधाम।
 तुझे ही जपत है द्विन नित्य
 तुझे पढते है ऋग्, यजु, साम ॥ ५५ ॥

महामाया तू मोहनशक्ति
 कहीं रहती है मोहाकार।
 महाविद्या भेदा स्मृतिरूप
 विमल है तू विज्ञानागार ॥ ५६ ॥

धरा धारण करती तू विश्व
 चतुर तू रचती है भव-सृष्टि
 जगत्पालन मे हे जगदम्ब।
 दया-पूरित है तेरी दृष्टि ॥ ५७ ॥

• महाकाती वन तू उन्मत्त
 महादानन करती संहार।
 महाविद्या देकर धालोक
 हटा देती है तम का भार ॥ ५८ ॥

प्रकृति रहती है तू अज्यक्त
 व्यक्त होती है जादाकार ।
 बिना तेरी कृपा के आज
 हुए हम हैं निर्मल निस्तार ॥ ५६ ॥

नमस्ते कालरात्रि हे शक्ति ।
 नमस्ते गहारात्रि हे देवि ।
 करो कृपा जागृत हो त्रिदश
 दारुणे गोहरात्रि नय देवि ॥ ६० ॥

नमो हे श्री ह्री माता शक्ति
 नमो लज्जे । त्रिभु । जय पुष्टि ।
 नम उद्योधन-कारिणि बुद्धि
 नमस्ते क्षान्ति शान्ति जय तुष्टि ॥ ६१ ॥

गदा धारे ले चक्र कृपाण
 भुशुण्डी शूल परिघ धनु वाण ।
 घना देती है तू रण-शंस
 असुर-दल पर करती अभियान ॥ ६२ ॥

बहा करती जब तू हुँकार
 सचा देती है सब-संहार ।
 कभी जनती है घोराकार
 मिटाने को भूतल का भार ॥ ६३ ॥

कभी सुन्दर से सुन्दर सौम्य
सुन्दरी शोभा से कमनीय ।
अमित करुणा से तू भय-सृष्टि
सरस कर देती है रमणीय ॥ ६४ ॥

अचेतन-चेतन मे तू शक्ति
चराचर मे है तेरा तेज ।
शयन करता है चिर से त्रिषणु
किया है क्यों तू ने निस्तेज ? ॥ ६५ ॥

करुं कैसे तेरी स्तुति प्रम्व ।
प्रभाजों की है तू आगार ।
अरे ! मुझमे तो है मति अल्प
अकिञ्चन की है तू आगार ॥ ६६ ॥

अभय का देती जो परदान
उसी का पीडित हो क्यों भक्त ?
तनय कितना भी हो मतिमन्द
तदपि माता रहती अनुरक्त ॥ ६७ ॥

यही है मधु-कैटभ-आख्यान
 मुना तुमने जो आन विचित्र ।
 फरें हम भी देवी का ध्यान
 यही उसका है प्रथम चरित्र ॥ ७४ ॥

काली है प्रलयरुत्री वह महात्रिा जगन्मोहिनी
 है जागति पही महाभगवती विद्या तमोहारिणी ।
 देती मिद्धि पिपाद दूर करती सर्वेश्वरी जो सदा
 माता है करणामयी वह महादुर्गा भयोद्धारिणी ॥ ७५ ॥

विन्यात रहा सन दशों में
 मुरदेश अमित गुण रत्न भरा।
 वह दिव्य तपोमय पावन थी
 रमणीय देव-कुल नन्म धरा ॥ ४ ॥

वसते सन मुर संपन्न वहा
 अति सभ्य सदा स्वाधीन रहे।
 थे जीर अतुल महिमाशाली
 पर मुग्ध सुखों में लीन रहे ॥ ५ ॥

वर वसन चार चन्दन भूपण
 मुग्धशयन मुमन मणि मालाएँ।
 अनुरक्षण थीं करती उनका
 गुण-रूप लसित मुर बालाएँ ॥ ६ ॥

भुनते रहते थे भोगों में
 मुर मूढ अमरा मन चञ्चल से।
 सुख देस परस्पर जलते थे
 परिताप भरे मधु विह्वल से ॥ ७ ॥

कुल उज्ज्वल गौरव उच्च रहा
 जन धन का बल था अल्प नहीं।
 पर एक संगठित रहने का
 जन्म था दृढ संकल्प नहीं ॥ ८ ॥

कवि गूँथ चले उनकी गाथा
 उनके यश का विस्तार हुआ ।
 अवनितल पर भी उनकी ही
 सुख निप्ता का संचार हुआ ॥ ६ ॥

तत्र देख चले नर नदर भी
 उन देवों के सुग्न का सपना ।
 करने सब कर्म मकाम लगे
 तजकर निष्काम कर्म अपना ॥ १० ॥

घट शक्ति चली सगठन विना
 मन भीरु हुआ साहस टूटा ।
 असुरों ने उनके घर में ही
 धुसकर समान विभ्र लूटा ॥ ११ ॥

लसकर देवों का घर वैभव
 असुरों के मन में डाह रही ।
 पर धन हरने को झल बल से
 चोरों को चिर से चाह रही ॥ १२ ॥

मतिहीन महिष मतगाला सा
 मुसिया उनका महिषासुर था ।
 यह बाहर से जितना काला
 उससे धक्कर उसका डर था ॥ १३ ॥

सुरपति को भोग निरत ऐसा
 सुरेश असज्जित सा पाया ।
 गल गुरु दानवों का लेसर
 वह देव शत्रु छल से आया ॥ १४ ॥

लूटे भूषण धन रत्न अमित
 दृष्टे मन्दिर पुर हाट जले ।
 कर चुम्बे बहुत गुट्ट जन दानव
 लडने तब सुर-मग्राट् चले ॥ १५ ॥

संगठित नहीं यद्यपि सुर थे
 पर भीषणतम मन्नाम किया ।
 निज देश-धर्म-हित कितने ही
 वीरों ने रण में नाम किया ॥ १६ ॥

शत वर्षों तक वह युद्ध चला
 सुरराज और महिषासुर का ।
 धरणी का कण कण रक्त हुआ
 कर रक्तपान देवासुर का ॥ १७ ॥

पर जीत रही महिषासुर की
 उमड़े वर में अधिकार गया ।
 सुरजाति धर्म पर अभिमानी
 असुरों ने अत्याचार किया ॥ १८ ॥

दुर्गों के सब अधिकारों में
 उनको क्रम क्रम से हीन किया ।
 सर्वम्ब हरण करके उनका
 सब भाति दश को दीन किया ॥ १६ ॥

हरि-शासन यम का न्यायासन
 सुरराज भवन नन्दन उपवन ।
 असुरों के सब हाथों में था
 दुर्गों का जीवन और मरण ॥ २० ॥

तब जान गये सुर अत्र उनका
 है अर्थ न जीवित रहने का ।
 पशु तुल्य पराधीनों का है
 अधिकार नहीं उल्ल कदने का ॥ २१ ॥

शक्ति सुरगण एकत्र हुए
 मिलकर सब विधि के पास गये ।
 आदर से आगे कर उनकी
 शिव धाम शिखर कैलास गये ॥ २२ ॥

सम्मिलित हुए सब देव वहां
 साहस कर कष्ट उठाने का ।
 संकल्प रहा सबके मन में
 असुरों से देश छुड़ाने का ॥ २३ ॥

उस देवसभा में ब्रह्मा न
 क्रम से आरम्भ किया कहता।
 मुर वीरो। जो स्वाधीन नहीं
 विन्दार उन्हें जीवित रहना ॥ २४ ॥

श्रुतिशास्त्र-अध्ययन यज्ञ हवन
 शुचि सोमसवन सन्ध्यावन्दन।
 कुल देश मान सेना जन धन
 है शेष कहा सुखमय जीवन ? ॥ २५ ॥

क्या सत्य यही दुख का कारण
 असुरों का छल अथवा बल है ?
 यह आज दुर्दशा तो सारी
 अपने दोषों का ही फल है ॥ २६ ॥

अपनी दुर्बलता ही सब को
 रिपु के घश में ले जाती है।
 तब क्यों अज्ञान विघ्न जनता
 असुरों में दोष लगाती है ? ॥ २७ ॥

बलहीन किसी का होना ही
 अति पाप असुर का दाता है।
 यह अन्तर-रिपु याहर के भी
 रिपुओं को पास धुलाता है ॥ २८ ॥

गिन गिन कर अपने दोषों को
 पहले जब दूर हटायेंगे।
 सुरवृन्द कहीं इन पापों से
 तब मुक्त यहाँ हो पायेंगे ॥ २६ ॥

अतएव तत्रो दुर्गुण पहले
 गुणपक्ष गहो विद्वान् वनो।
 सन्न त्याग परस्पर भेदों को
 संगठित अनुल बलयान् वनो ॥ ३० ॥

तब शक्य नहीं है क्षण भर भी
 तुमको कोई परतन्त्र करे।
 तब शक्य नहीं सुरभूतल पर
 सुरशत्रु कहीं भी पैर बरे ॥ ३१ ॥

अपना यह दोष पुराना है
 इसलिए असुर चढ आते हैं।
 जब जब बढ़ती है दुर्बलता
 तब तब परतन्त्र बनाते हैं ॥ ३२ ॥

पर ध्यान यहाँ जिनकी जननी
 बन्दी है रिपु की कारा मे।
 है डूब रहा गौरव जिनका
 अपमान सहित जल धारा मे ॥ ३३ ॥

वे मौन पडे क्यों सोते हैं
जीवन उत्सर्ग नहीं करते ?
यह स्वर्ग नहीं उनका घर है
कर्तव्य कठिन से जो डरत ॥ ३४ ॥

निज देश का कुल गौरव का
अभिमान नहीं जिसमें रहता ।
चरणाहत होकर जो अरि से
अपमान निरंतर है सहता ॥ ३५ ॥

उससे तो है वह धूल भली
जो पैरों से ठोकर खाकर ।
अभिमान सहित चढ जाती है
बैरी के मस्तक पर जाकर ॥ ३६ ॥

मिटता धर्म का ताप नहीं
सतोष तथा समय दम से ।
उपचार न हो जब तक उसका
रिपु के ही शोणित-कर्दन से ॥ ३७ ॥

गुण एक अमरता ही तो है
शुचि सोम-सुधा-रस पीने का ।
वह अमर नहीं जो मान बिना
कायर है लोभी जीने का ॥ ३८ ॥

गत न करते अनुताप नहीं
जो वर्तमान सुलभाते है ।
जन चतुर तिमिरमय संकट मे
दीपक सी नीति दिखाते है ॥ २६ ॥

क्या नीति कहा हम अपनाये
इसका कुछ भेद बताता हूँ ।
हमको संप्रति क्या करना है
निश्चय कर उस सुनाता हूँ ॥ ४० ॥

असुरों से सन्धि असंभव है
हो भी तो शुभ परिणाम नहीं ।
कितना ही मेल करे तो भी
त्यागो कुत्सित काम नहीं ॥ ४१ ॥

कुछ दान विनय करने से भी
उनका होगा परितोष नहीं ।
सर्वत्र उन्हें दे दे तो भी
उनको होगा सतोष नहीं ॥ ४२ ॥

अप भेदनीति से शक्य नहीं
वश मे होना वैरी दल का ।
उनके है आज शक्ति कर मे
है गर्व उन्हें अपने बल का ॥ ४३ ॥

है अन्य नहीं कोई हमसे
 शरणों में भी लेने वाला ।
 असुरों के क्रूर से देवों का
 अधिकार दिला देने वाला ॥ ४४ ॥

अरि के दल में कुल विग्रह का
 आभास अल्प भी यदि रहता ।
 'वैठो कुछ काल मौन होकर'
 यह नीति अभी तुमसे कहता ॥ ४५ ॥

पर अन्य नीति अवलम्बन का
 अपकाश नहीं दिखाता है ।
 असुरों से सगर करने का
 अन् एक मार्ग रह जाता है ॥ ४६ ॥

इस पथ पर निर्भय चलने की
 जब तक सोचेंगे युक्ति नहीं ।
 जब तक असुरों के हाथों से
 सुरगण पायेंगे मुक्ति नहीं ॥ ४७ ॥

इसलिए मार्ग निश्चित कर लो
 पग आगे को धरना होगा ।
 अविलम्ब राष्ट्र की वेदी पर
 एक-यज्ञ एक करना होगा ॥ ४८ ॥

रण-यज्ञ राष्ट्र-हित पावन है
 सब जाति जहाँ अधिकारी है ।
 इसमें जन जो सम्मिलित नहीं
 वह देश शत्रु अधकारी है ॥ ४६ ॥

वह पाप पतित पाखण्डी है
 जो उसे बताता हिंसा है ।
 निज देश धर्म की रक्षा में
 हिंसा यह परम अहिंसा है ॥ ५० ॥

यह राष्ट्र-यज्ञ वीरव्रत है
 बन्धन से मुक्त कराता है ।
 कहती है श्रुति निर्दोष इसे
 यह यज्ञ विद्वेह का त्राता है ॥ ५१ ॥

इसमें वीरों की आहुति से
 ज्वाला जो घोर निकलती है ।
 रिपुकुल की जगतक रास न हो
 तब तक यह संतत जलती है ॥ ५२ ॥

इस धर्म-यज्ञ में है कोई
 संतोष क्षमा का स्थान नहीं ।
 उसको हम धर्म नहीं कहते
 जिससे अपना उत्थान नहीं ॥ ५३ ॥

अज्ञान जनित त्यागो अपन
इन कुत्सित दीन विचारों को।
अब क्षण भर भी मत सहन करो
असुरों के अत्याचारों को ॥ ५४ ॥

रीखत ही लेकर दीक्षा
वीरो। जीवन को शुद्ध करो।
सन मात्र समर-सभारों को
आरम्भ अभी से युद्ध करो ॥ ५५ ॥

कर्तव्य उचित पालन करना
श्रुतियों का है वक्तव्य यही।
है जीव अमर नश्वर तनु मे
है सत्य अणु-सदेश यही ॥ ५६ ॥

माता का मल है पुत्र जही
दासत्व भार जो वहन करे।
रहता पुरुषत्व वहा उसमे
अपमान सदा जो सहन करे ॥ ५७ ॥

'कपटी रिपु से भी कपट नहीं'
यह मूर्ख विमूर्खों का मत है।
फाँटों पर नंगे चरणों से
चलने ही नीति असंगत है ॥ ५८ ॥

यदि अल्प समय भी जीवन हो
पर वह मिजली सा चमक उठे ।
सगर में जलकर क्षण भर भी
शपनी ज्वाला से चमक उठे ॥ ५६ ॥

सुर वीर लोभ से जीवन के
भूमी की आग नहीं जलते ।
निज अग्रण-धूम से जीते ही
वे नहीं मुताग कर ठे मनते ॥ ६० ॥

चतुरानन ने इतना कहकर
जग मयसभा में मौन गहा ।
शीरो के आनन पर देखा
उत्सुक नयनों से नीर उहा ॥ ६१ ॥

इन दिव्य अमर सन्देशों से
मन में जो अमित उमंग बढा ।
अति गौर उदन पर देवों के
उमका अरुणोदयरग चढा ॥ ६२ ॥

शिव निष्णु प्रसुप्त भी लाल हुए
कॉपे दोनों के पारु पध ।
तन गई कुटिल वनु मी भौंहे
बोले अब होने दो सगर ॥ ६३ ॥

मंगर मुनो ही दवों के
 देहों से घोर उठी ज्वाला।
 वह संघशक्ति मिलकर सारी
 धन गई एउ अद्भुत बाला ॥ ६४ ॥

उस देवी की आभाओं से
 भर गया भुवन मारा क्षण मे।
 उसका शुभ दर्शन करते ही
 मटा उत्साह थमरगण मे ॥ ६५ ॥

बलयान करों मे तब उसके
 निच शस्त्र सुरों ने दान किया।
 धर वसन रत्न मालाओं से
 उमका सजने ममान किया ॥ ६६ ॥

असि चर्म चक्र शर शूल गदा
 धनु परशु पाश घटा दर पर।
 ले वज्र दण्ड वारिज सहसा
 हो गये सजग देवी के कर ॥ ६७ ॥

गिरि शैलराज भी सेवा में
 उपहार सिंह राहन लाया।
 वह शैल-सूनु सादसशाली
 देवी को पचानन भाया ॥ ६८ ॥

आकाश तुम पर जो ही
 नेत्रों की तरल धनी ताली ।
 यह अदृशम फर गर्त उठी
 जगो धन-पोर-घटा कानी ॥ ६६ ॥

धूम गर्द धरति कापे भूधर
 दिल बला पंगेधि हिलोरी मे ।
 फट गया गान रटर उमके
 उन्नत छिंट के करो से ॥ ७० ॥

आंखी मी चली उठी पागे
 रत मे त्रिप गया अंशुमाली ।
 सुर एव वंठ से बोग उठे
 'जय मदिपमदिनी जय काली' ॥ ७१ ॥

घंटे घांके रणराग यजे
 चल न्नत बुनाएँ फडन उठीं ।
 तुरमिठ-याहिनी विचती सी
 यह दैत्य दुर्ग पर गढ़य उठी ॥ ७२ ॥

सुरशक्ति सुसज्जित शस्त्रों से
 जय यह असुरों पर दृष्ट पड़ी ।
 जैसे अपार त्रैलोक्य की
 बाला विशाल सी फूट पड़ी ॥ ७३ ॥

रग मत्त गिर भी गर्न ठा
 मुत गणात्त दानर निरने।
 न्य गट्ट अरगुना अरौतों मे
 जुन गये गद्व वर वीर चने ॥ ७१ ॥

मत्त नेर भयानर ने भंसे
 मगरान भिग नागूतों से।
 मत्त फपट फपेटों से माग
 अभिमान गलों का वरों से ॥ ७२ ॥

चामर उदम अंक बाखल
 गमिलोम ताम्रगुरा सुरतापी।
 मम्मिलित ममर मे दूत पडे
 विरयात चिरन्तन के पापी ॥ ७६ ॥

परभेद-चतुर जो देशों मे
 द्विपकर करता था बैर गडा।
 यह पतित पिटारा पापों का
 रण मे विडाल भी उत्तर पड़ा ॥ ७७ ॥

रिपु रहा प्रमुख जो देवों का
 अघ पुत्र अमित अत्याचारी।
 यह चला चमूपति वीरुर भी
 अति चण्ड चमू ले-र मारी ॥ ७८ ॥

निरपेरी को मनुष्य पार
 देवी के तीरे तीर पले ।
 घट विपट विपट जोरे जोरे
 पतुसंग धनु को पीर पों ॥ ७८ ॥

ज्यो हत नाथो पी सेता
 ज्यत आंधी मी मः पड़ी ।
 त्यो चटुल मिह पर पण्टी भी
 चः प्रलय रना मी पुगड़ पडी ॥ ८० ॥

परं असुरों पर परम पानी
 यह प्राण चमकते प्रगारे ।
 नीले जंगल पर टूट पडे
 जैसे अथगतल मे तारे ॥ ८१ ॥

बिद्ध गये विवर श्री धन मे
 धारों नी गर योचरों मे ।
 गुं दे गये गदाश्री से कितने
 दिनने कट गने कटारों मे ॥ ८२ ॥

हट गये हहर हुंकारों से
 मठ गये भहरकर मारों से ।
 चक्रों से कितने चीन उठे
 पट गये परशु की मारों से ॥ ८३ ॥

घर लङ्ग हनारों हाथों से
जब छोड़ चली उन पर धारा ।
गण्डित नर कंठ क्रोरों का
पर दिया समर में निपटारा ॥ ८४ ॥

धामर चासल उद्धत जूमे
सेनापति चीसुर अस्त हुआ ।
मुद्रित पर भूरी सी थोंलें
भूपर निडाल भी धस्त हुआ ॥ ८५ ॥

सुरसिंह-वाहिनी ने सारी
रिपुसेना का मंहार किया ।
असुरों के पापों को हनकर
अथवा उनका उद्धार किया ॥ ८६ ॥

तन मार मार महिपासुर को
जर्जरित कर दिया धारणों से ।
गर्जित उसकी तलवारों को
कुण्ठित कर दिया तृपाणों से ॥ ८७ ॥

वह सका जहा तक मायावी
सब कुछ उतना हल घात किया ।
कर निफल उसे जगदम्या ने
अन्तिम उस पर आघात किया ॥ ८८ ॥

गिर पड़ा अमुर मूर्तिन गू पर
 देवी पाहन से डवर पड़ी ।
 प्रीया मे शूल अग्रा डाके
 बसुम्यल पर हो गई रनी ॥ ८६ ॥

गिर भी आभा उठ गया अमुर
 लड़ने की ज्यों ही मनग हुआ ।
 तत्काल गद्ग से देवी ने
 उमदा गिर धट ने अलग किया ॥ ६० ॥

उस महा अमुर के मरने ही
 निष्कण्टक फिर सुरधाम हुआ ।
 दानव भी मनमे घोल उठे
 पापों का क्या परिणाम हुआ ? ॥ ६१ ॥

कट गये किसी के कर्ण पद
 है क्या सिमी का ग्न चरण ।
 परहीन हुए कुछ अधनयन
 अब जेप रहा हाहा मन्दन ॥ ६२ ॥

हे श्रोठ नहीं कैसे घोलें ?
 हे पैर नहीं कैसे डोलें ?
 पर विना बहा से काम करें ?
 कैसे कुटुम्ब का पेट भरे ? ॥ ६३ ॥

हा कौन कहा उपकार करे
 कैसे होगा निस्तार अरे ?
 हा कौन करेगा जीवन की
 जर्जर नैया को पार हरे ? ॥ ६४ ॥

हे लोभ असुर ! तेरा क्षय हो
 तू ही विनाश का कारण है ।
 तेरी दुःख-पिपासा में
 होते अनर्थ कितने रण हैं ? ॥ ६५ ॥

इस देवदेश में आकर के
 छल से जो अत्याचार किया ।
 फल आज उन्हीं पापों का है
 जिन ने यह दुःख उपहार दिया ॥ ६६ ॥

यह सोच असुर जीवित जो थे
 सुर-देश त्याग मग दूर गये ।
 मिट गया जगत का शोक तिमिर
 फिर से छाये आनन्द नये ॥ ६७ ॥

उल्लासित विजय के गीतों से
 मगलमय दुःख शंख धजे ।
 'श्रीमहिषमर्दिनी की जय हो'
 बोले सुर शोणित रग-सजे ॥ ६८ ॥

अतुर-क्षयिण शोण ले छपायी
 प्रमुदित सी रगभूनि मे जयधी ।
 श्यापति पर थी विराजमाना
 विपुदलनी मुरनपशक्ति दुर्गा ॥ ६६ ॥



एकादश सर्ग

शक्रादिस्तुति

शक्रादि देव महिपासुर को ससैन्य
निष्प्राण देवकर हपित हो नितान्त ।
बोले विनम्र मयुर स्तुति अम्बिका की
श्रद्धानुराग नत साञ्जलि मौलि शान्त ॥ १ ॥

हे सर्व देवगण शक्तिसमूह मूर्ति
तू हूँ इसी भुवन में करती निवास ।
त्रैलोक्य पालनकरी जय दिव्य शक्ति !
मात । करो मतत दानव दपनाश ॥ २ ॥

हे अम्बिके अद्विज देव महर्षि पूज्ये !
हे सघशक्ति ! तुझमें बल है अनन्त ।
कैसे हमें विदिन हो अतुल प्रभाव
पाते अनन्त विधि भी जिसका न अन्त ॥ ३ ॥

तू पुण्यरहित जन के पर में रमा है
 पापिष्ठ के भयान में दमती हरिद्रा ।
 मद्धा पवित्र मन में परगणा घली में
 दुर्भाग्य दृश्य गुन में बलि मोह निद्रा ॥ ४ ॥

तू है कुर्चीत जन में धुन शील लज्जा
 सद्गोप तू त्रिभुव में मल में अलज्जा ।
 तू आर्षमें प्रिय गत्य परोपकार
 है देवशक्ति । तुमही गति पार पार ॥ ५ ॥

तू हेतु है जगत की त्रिगुणभ्ररूपा
 आद्या परा प्रकृति अव्यय निर्दिशार ।
 जैसे अचिन्त्य वह अद्भुत रूप जानें
 मोहादिदोष-हृत मानस है हमारा ॥ ६ ॥

संसार मर्म, निगमागम या रहस्य
 दोनों समुद्र अति दुर्गम है अपार ।
 पाती न पार इनका यह बुद्धि नौका
 तेरी कृपा न मिलती यदि उर्णधार ॥ ७ ॥

तेरा सम-द-मधुर स्मित-कान्तिधारी
 चन्द्रानुकारि यह आनन है विशाल ।
 आदर्श है पर यही सब दानों को
 होता प्रतीत क्षुपितान्तक सा कराल ॥ ८ ॥

हे दिव्यशक्ति । महिषासुरवश तेरी
कोपाग्नि मे ज्वलित भस्म हुआ अंगेर ।
फल्याण देव जुल का जिस भाति से हो
माता । करो अब तथैव कृपा विशेष ॥ ६ ॥

हे विद्वान् मे जन वही मुहूर्ती यशस्वी
मौभाग्यशील युव मान्य वदान्य धन्य
तू भक्तभीतिहरणी सकलार्थदात्री
हे देवि नित्य रहती जिससे प्रसन्न ॥ १० ॥

वृत्तिप्रदा सफल हो तुम अर्थविद्या
रक्षाकरी चिरपरीक्षित राजविद्या ।
वेदत्रयी विदित हो तुम यज्ञविद्या
आन्वीक्षिकी निगमगम्य मुमुक्षुविद्या ॥ ११ ॥

इमानुसार फलनिर्णय मे अशक्त
कैसे क्रिया क्षणिक अज्ञ जडस्वरूपा ।
देती भवान्तरित भोग अनेक भारी
अर्भक्ष तू न रहती यदि एकरूपा ॥ १२ ॥

दारिद्र्य दु ख भय दुर्गति रोग-हारी
तेरा सदा स्मरण है मति शुद्धिकारी ।
दुर्गे दयार्द्रहृदये । तुमसे कहीं भी
छोड़ न है अधिक् अन्य परोपकारी ॥ १३ ॥

हो विश्व मे अभय शान्ति सुख प्रकाश
 हा पावतु नमय दानप्र वा विनाश ।
 तेमा विनाश करके रण चो विना है
 नो आप ने ननुपहार यार्ने किया है ॥ १४ ॥

तेरा कृपाण अति भास्वर देगने ही
 है त्यागने दनुन भी विर दुर्जरित ।
 कृत स्वभाष रगते यदि शस्त्र तरे
 है चित्त मे अनित विन्तु रया पयिन्न ॥ १५ ॥

रक्षा करें नगत की गल दुर्जनों से
 तरी असंग्न्य सुविशाल महाभुजाएँ ।
 हे मर्यन्तेष-गणराक्षि हमे यही दो
 हो देय मंगठित शास्त्रयत शक्ति पायें ॥ १६ ॥

हो शूल तेरा जनशूलहारी
 रक्षा करे गन्ग गलप्रहारी ।
 हो दिव्य घंटा रघु आर्तिहारी
 प्रचण्ड चापस्वन शान्तिहारी ॥ १७ ॥

मां चण्डिके । शूल कृपाण धारो
 हमे मदा पश्चिम से उवारो ।
 पूर्वोत्तरा दक्षिण से यचाओ
 अभीत सर्वत्र हमे यनाओ ॥ १८ ॥

तेरा मदा शोभित पिण्ड मे हो
 प्रसन्न शान्तिप्रिय मौम्य रूप।
 अनीति को दूर करे धरा से
 सशस्त्र भी घोर कभी स्वरूप ॥ १६ ॥

बोली महाशक्ति सहस्रहस्ता
 मैं एवता मे करती निरास।
 तो भी सुरो ! क्या वर मागते हो
 करूँ उसे पूर्ण विना प्रयास ॥ २० ॥

कहा सुरों ने जगदम्ब दुर्गे !
 रहा न कोई सुर-कार्य शेष
 किया हमारे वध शत्रुओं का
 प्रसन्न है ध्याज समग्र देश ॥ २१ ॥

करो यही एक वर प्रदान
 हो जीव कोई यदि दुःख-युक्त।
 दुर्गे तुम्हारी स्मृति मात्र से ही
 तत्काल हो शोक विपत्ति मुक्त ॥ २२ ॥

‘तथास्तु, बोली वह भद्रकाली
 दी भक्त देवों पर सौम्य दृष्टि।
 होने लगी उपर से धरा में
 सुराङ्गना प्रेरित पुष्प दृष्टि ॥ २३ ॥

हृदं सुरो पं यद देवते ही
 हुन्त अन्तदित दयसति ।
 द्वितीय भी पूर्ण हृषा चरित्र
 कदा सुमेधा मुनि न सभक्ति ॥ २४ ॥

चतुरस्रि विरायु ने कती जो
 हरि कथा या देव दानरो की ।
 चितक यद चेतती रहेगी
 युग युग में सुग शान्ति मानरो की ॥ २५ ॥

द्वादश सर्ग

तृतीय चरित्र

संगठन कोई किसी भी देश में
प्रेम से पलता नहीं दिन अल्प है।
भाइयों के भी परस्पर भाव को
तोड़ देता स्वार्थमय सन्ल्प है ॥ १ ॥

जो कलाओं को कहीं से जोड़कर
पूर्ण होता है शशी आकाश में।
छोड़ देती है क्षणिक वे मित्रता
देन उसको क्षीणता के पास में ॥ २ ॥

संगठित विजयी सुरों के स्वर्ग में
जोरही सुख शान्ति की विकसित कली।
आत्मसौरभ से मुदित कर देश को
किन्तु यह कुछ काल में मुरम्ता चली ॥ ३ ॥

मन्दगति मुर ही विजय के गर्भ मे
हो जाने फिर लीन मुर के मोल मे ।
धे पत्नी भी अनुर पर धैर मे
गतिमन्त्र के लगे टगो मे ॥ ४ ॥

हे मदा अग्निर विजय मन्तार मे
स्थिर नहीं रहती पराजय भी पनी ।
शक्तिबल का मार पानी है जहाँ
जय-शरणाय की तुला भुंती यानी ॥ ५ ॥

विद्वज रक्षा है अन्त विद्वान्म से
मर्यादा होती रिणय में धर्म की ।
किन्तु है प्रत्यक्ष एकनमाता
जय-शरणाय मे धर्म और अधर्म की ॥ ६ ॥

क्या नहीं बरती रिणय उस पक्ष को
जो नहीं होता अधिभूत बलवान है ?
धूर कर देता नहीं अन्याय क्या
न्याय के भी पक्ष का अभिमान है ? ॥ ७ ॥

भृष्टियों के चोर धाराघात से
शीत जाती है व्यथित सी यामिनी ।
एक क्षण केवल तिमिर के राज्य में
सौख्य देती है उसे सौदामिनी ॥ ८ ॥

रज तमगुण नित्य रहते चित्त में
सत्त्वगुण का अल्प ही होता उदय ।
धर्म की तो जीत होती है कमी
पाप ही तत्काल पाते हैं विजय ॥ ६ ॥

शुभ और निशुभ के नेतृत्व में
सगठित फिर से असुर होने लगे ।
क्रूर वे छलनीति से सुरदेश में
भिन्नता के बीज कुछ बोने लगे ॥ १० ॥

पल्लवित अरिनीति की विषयल्लरी
उम फल सुरदेश में फलने लगी ।
चेतना से हीन कर सुरराष्ट्र को
मोह मद विभ्रान्ति से भरने लगी ॥ ११ ॥

बुद्धिबल से शुभ और निशुभ के
आसुरी दल उप्रता गहने लगा ।
जागकर उद्वण्ड वह दावाग्नि सा
विश्व को आतंक से दहने लगा ॥ १२ ॥

अन्त में करके परान्वित इन्द्र को
शुभ का शासन चला सुरलोक में ।
देव थे सर्वस्य देकर शत्रु को
पक्षहीन निहंग इसे शोक में ॥ १३ ॥

दीनर मुरमंदा अयाय से
 देयभू पर दा गरी दनुमण्डली ।
 दानवों के हृत्य से मुरपश की
 दुर्दशा मोदश की सी हो चली ॥ १४ ॥

आमुरी अन्याय को निज देग में
 हृद ममय पर्यन्त मुर नहते रहे ।
 उस परिस्थिति के अशान्त प्रयाद में
 धैर्य लेकर शान्ति से बढ़ते रहे ॥ १५ ॥

फिन्नु उगरी मौनता में ही द्विपी
 एक भीषण जो अशान्ति विशाल थी ।
 फूट चलने के लिये अतुल्य सा
 देरती जालामुरी यह पाल थी ॥ १६ ॥

एक धार्मिक पर्य या अरमर मिला
 देश में एत्र होने के लिये ।
 जाहरी के नीर में मुरजाति को
 दामता का पक घोने के लिये ॥ १७ ॥

देवगण मित देवियों के साथ ही
 प्राम पुरधन शैल से आने लगे ।
 एगनर मुरनिम्नगा के नीर में
 चित्त में विश्राम सा पाने लगे ॥ १८ ॥

ग्याभिमानी देश के विद्वान भी
 त्तर से आकर वना आसीन थे ।
 दूर कैसे हों असुर सुरभूमि से
 लोकहित इस चिन्तना में लीन थे ॥ १६ ॥

दूरदर्शी भूसुरों ने तब कहा
 मुक्ति मिलनी है तपों से त्याग से ।
 शीघ्र होगी दूर बाधाएँ सभी
 किन्तु सन्नति दिव्य चण्डीयाग से ॥ १७ ॥

मर्त्यसमत यज्ञ की यह भावना
 हो गई माया कृत्य-विधान से ।
 हो गया गुञ्जित गगन संसार का
 वेदमन्त्रों के व्यवस्थित गान ने ॥ १८ ॥

ह्रम गा भी तरंगित हो चली
 यज्ञ के उस दिव्य पावन गन्ध से ।
 हो गये क्षण में विलक्षण धूम से
 दानवी संस्कार सारे अंग से ॥ १९ ॥

अग्नि का मुख प्राज्यधारण से
 जह्नुषी पा गारि गहनज्ञान से ।
 हो गया हृतरुग्ण वा मत्सर्ग भी
 विद्वरिष्ठ ने पर्याप्त-संधान से ॥ २० ॥

पूर्वाङ्ग के हेतु यद्यपितान की
 अन्न में मुरट्टर मित्र नव माय म ।
 सूत्र देवी का लगे उपरो यथा
 प्रेमपूर्वित पुत्र नेत्र दाय मे ॥ २२ ॥

नमो शिरे देवि शरण्यात्मने ।
 नमो मङ्गले वि मन्त्र मुद्राप्रदे ।
 नमः सुमन्त्रे प्रवृत्तिभारिणी ।
 नमो नमो हे प्रतिरोद्धरिणी ॥ २५ ॥

मन्त्रे श्री विमलीनारिणी
 त्रिलोकधात्री मयताप-हारिणी ।
 सुधाशु मे तं सुम चारु चन्द्रिका
 सुधाश्री लोका-मौन्यहारिणी ॥ २६ ॥

मुहूर्त ही तू क्लृप्त मित्रि है
 ममृद्ध की है स्थिर भूति मंदा ।
 विपत्ति में दुर्गति दुर्गतिारिणी
 दया हे दुर्गा तुम देवि हो मदा ॥ २७ ॥

प्रमाद मे तू भ्रम धूम्र-मोह है
 अमर्ष मे माल काल कालिका ।
 विनीत मे मौम्य पुण स्वभाव है
 शुक्लीन मे सत्त्वति कीर्ति मालिका ॥ २८ ॥

समीप आती जिसके न दीनता
कुनाति पाते निमसे कुचीनता ।
विशेष जो उन्नति का निगान है
क्रिया यही तू सुख की निधान है ॥ २८ ॥

अनादि माया यह विष्णुदेव की
प्रतीत होता जिसका न पार है ।
न जीव पाता निमसे निमुक्ति है
उसे नमस्कार पुनर्नमो नम ॥ ३० ॥

अनन्त जो प्राणिसमूह मात्र मे
समा रही है यह चार चेतना ।
सचेत है जो करती शरीर को
उसे नमस्कार पुनर्नमो नम ॥ ३१ ॥

त्रिपी हुई है इस नश्य देह मे
अदृश्य जो सूक्ष्म विवेक बुद्धि है ।
अरोग मे जो सुगर्भीद भूख है
उसे नमस्कार पुनर्नमो नम ॥ ३२ ॥

प्रसन्न लक्ष्मी कलिहीन गेह मे
सुकान्ति है जो कमनीय देह मे ।
अनेक मे जो स्थित एक जाति है
उसे नमस्कार पुनर्नमो नम ॥ ३३ ॥

अनिष्ट है विना हेतु वृत्ति जो
 तथा महावृत्ति अनेक मय में ।
 सुदृढ है जो विषयार्थ में
 उसे नमस्कार पुनर्नमो तम ॥ ३४ ॥

प्रवृत्त होते विपत्ते प्रमाय ने
 मदा मन प्राण शरीर कर्म में ।
 महासु होते विपत्ते विना ममी
 उसे नमस्कार पुनर्नमो तम ॥ ३५ ॥

अथा मृत्ति धाति ज्या मरुत्त ने
 तथा जमा-शाक्ति-सुदृष्टि-रूप में ।
 विमात्र्य है जो स्थित सर्व भूत में
 उसे नमस्कार पुनर्नमो तम ॥ ३६ ॥

सुस्तुते देवि । नमो वरप्रदे ।
 नमोस्तु ते नम्र-सुरेन्द्र-मेरिते ।
 सुमंगले मंगल-भूति-शरिणी ।
 नमो नम शोक-विपत्ति-हारिणी । ॥ ३७ ॥

तथा रहे हैं हम ज्ञान्त विद्वज को
 महावृत्ती दानत्र आन पाप हैं ।
 विपत्ति में तो मृत्तिपाठ मात्र में
 निपत्र की एक सदाय प्राप हैं ॥ ३८ ॥

पाठ से इस दिव्य देवीसूक्त के
शक्ति मोई दिव्य मी सद्मा जगी ।
पास आकर देवियों के मध्य से
पार्वती सुरसंघ मे कहने लगी ॥ ३६ ॥

आज गगास्नान के शुभ पव में
धर्म पर यद्यपि उचित अनुराग है ।
हे सुरो ! तो भी कहो किस हेतु से
हो रहा यह दिव्य चण्डीयाग है ? ॥ ४० ॥

हो प्रन्ट तत्काल ही जौली शिवा
दानपीदल से दलित सुरदेश है ।
यज्ञ की इस भावना मे दीपता
देश का कल्याण लक्ष्य त्रिगोप है ॥ ४१ ॥

देव भूतल नी अलौकिक सपदा
आसुरी अविकार मे गत आज है ।
बद हैं सुरवृन्द कारागार मे
देवियों की भी न बचती लाज है ॥ ४२ ॥

गेह कितने हो रहे विध्वंस हैं
देह शूलों पर सुलाग जा रहे ।
दानधों के क्रूर कृत्यों से अरे ।
दुर्दशा मे हैं डुबाए जा रहे ॥ ४३ ॥

आजुगी जाने एट्टरों की क्या
 पारंती के पाप में ज्यों ही पड़ी।
 दग्ग नी हो पाप चर्चा नाप्र से
 कान्ति उतकी गौर भी वाली पड़ी ॥ ४४ ॥

दानों का पाप करने के लिए
 हो गटे गौरी भयंकर पालिका।
 एक श्रौतों से उगलने भी लगी
 भीषण ज्वालाला यथा धन मालिका ॥ ४५ ॥

दीनता भय की भगाती सी हुई
 गर्भकर सुरमय में उमने पड़ा।
 त्याग तुमने प्यता निज देश में
 शत्रु ने अपमान कितना है सहा ? ॥ ४६ ॥

एक यद्यपि नित्य सर्वव्यापिनी
 सिद्ध की रक्षक अलक्षित शक्ति है।
 एतदा से हीन देश समाज को
 किन्तु यह देती नहीं बरा शक्ति है ॥ ४७ ॥

जीय यदि कोई अकेला दीन हो
 साधनों से हीन हो असहाय हो।
 ईश्वरी मिलती उसी को शक्ति है
 दुःख में यदि सर्वथा निरुपाय हो ॥ ४८ ॥

मघ पाता एकता से शक्ति है
 मंगठन से मम्मिलित उद्योग से।
 क्षीण होते देश जाति समाज हैं
 प्रसन्न होकर भिन्नता के रोग से ॥ ४६ ॥

एकता है लब्ध यद्यपि यद्य स
 किन्तु यह सुरजाति साधनहीन है।
 काम देती है न केवल एकता
 साधनों के भी विजय आधीन है ॥ ४७ ॥

देवगण का दानों के नाश में
 जो हुआ पहले सफल उद्योग था।
 एकता के साथ ही उस काल में
 साधनों का भी सुलभ संयोग था ॥ ४९ ॥

शुभ के इस पापशासन-काल में
 मंगठन का भी नहीं अधिकार है।
 युद्ध के साधन सुलभ होंगे वहाँ
 जो यहाँ से सात सागर पार हैं ॥ ५२ ॥

किन्तु भौतिक शक्ति से भी है परे
 शक्ति आध्यात्मिक विशेष वतप्रदा।
 दिव्य उसका रूप त्रिधा युद्धि है
 नाम है उमका भगवती शारदा ॥ ५३ ॥

सामर्थ्य की य जनों की न्यूनता
 कार्य न पाया न करती है यदा ।
 आत्मरत्न-रत्ना-प्रशारण-पिणी
 शक्ति मन्त्र वास करती है जदा ॥ १४ ॥

जो हजारों माथनों की शक्ति से
 कार्य दुष्कर भी विनाश्र्त अभाष्य है ।
 आत्मरत्न प्रदा तथा रत्नाह से
 लोक में होना पक्षी सुगम भाष्य है ॥ १५ ॥

देव पर विद्वान् कवि है धर्म में
 आप की सग्या न यद्यपि अल्प है ।
 किन्तु तुम उत्साह फल से हीन हो
 शत्रुओं की भी-यशक्ति अनल्प है ॥ १६ ॥

दुर्गम । तुमसे अधिक् इस देश की
 दरियों में स्नेह सेवा भक्ति है ।
 त्याग में भी उच्च ही हैं आपस
 दीसती इनमें विलक्षण शक्ति है ॥ १७ ॥

हृदयरी जो आविर्देविक शक्ति है
 अङ्गनाएँ सब उसी की अंग है ।
 शत्रु का सहार करने के लिए
 युद्ध में वे आज मेरे संग हैं ॥ १८ ॥

त्याग भेदों को सजग हो जाइये
 दुःख से उद्धार पाने के लिए।
 पार्वती दल अग्रसर है देश की
 मुक्ति का बीड़ा उठाने के लिए ॥ ५६ ॥

नीति से प्रज्ञा तथा रण-युक्ति से
 दानवों का भार हरने के लिए
 मैं सदा आगे रहूँगी संघ के
 विजय का उद्धार करने के लिए ॥ ६० ॥

दिव्य शस्त्रों से सुसज्जित देवियाँ
 पार्वती-दल के लिए उद्यत हुईं।
 जाह्नवी के तीर से प्रस्थान कर
 अद्रिचर हिमशैल पर सगत हुईं ॥ ६१ ॥

शृंग पर गिरिराज के गिरिनदिनी
 देवियों के मध्य में आसीन है।
 दिव्य जैसे आन पावन भूमि में
 भान होती कान्ति एक नहीं है ॥ ६२ ॥

खेलती है तीर्थ वानन-शुद्ध में
 विजय की सारी बहा रमणीयता।
 इस-कोकिल-कीर के कल नाद से
 पूजती स्वयमेव है कमनीयता ॥ ६३ ॥

मद मद सुगन्ध शीतल वायु में
 है मरी रोधी विलम्ब भङ्गता ।
 जीव पापी भी जल पुण्ड काल में
 मीन लेता है गुरो की नयता ॥ ६४ ॥

दो धगुर प्रच्छन्नचारी चार से
 पे पहा रहते यही सुर चंग में ।
 है पहा सुर देवियों में पाम्ता
 देखते रहते यही गिरिदेश में ॥ ६५ ॥

भृत्य भे वे शुभ श्रीर निशुभ के
 पण्ड पुण्ड विचित्र उक्ता नाम था ।
 पीन है अति सुन्दरी मंसार में
 मोनना ननश गिरतर काम था ॥ ६६ ॥

शीघ्र जा वे शुभ से कहने लगे
 एक देवी रूप-शान्ति-निधान है ।
 देव लें चल आप उसके तेज से
 भासता सारा अचल हिमवान है ॥ ६७ ॥

है न कोई विद्वय में उस रूप की
 अङ्गनाश्री में अतुल यह रत्न है ।
 'कौन है यह जानकर यह शीघ्र ही
 क्यों न उसके हेतु करते यत्न है ? ॥ ६८ ॥

शुभ ने सुन यह प्रलाया दूत को
 गुप्त कुछ सदेश कानों मे कहा ।
 दूत । जा, करना निवेदन युक्ति से
 शृंग पर यह सुन्दरी रहती जहा ॥ ६६ ॥

शीघ्र जाकर अम्बिका के सामने
 दूत बोला नम्र हो दनुजेश का ।
 देप्रि । हूँ सन्देशहारी शुभ का
 है निवेदन शब्द कुछ सदेश का ॥ ७० ॥

मिल चुकी है त्रिदिव मे जिसको त्रिजय
 देव जिसका पालते आदेश है ।
 प्रेम के वश हो उमी अमुरेश ने
 आप को ऐसा क्रिया निर्देश है ॥ ७१ ॥

जीतकर तीनों भुवन है पश किए
 एन्द्रिय विशाल मेरा राज है ।
 है सफल सुरपति अनुगामी बन्ना
 क्रोध से डरता सदा सुरराज है ॥ ७२ ॥

अश्व, गज, सर्वैश्व अपना इन्द्र ने
 भीति-पश मुझको समर्पण है क्रिया ।
 सिन्धु-भयन से मिले जो रत्न थे
 छीन उनको भी सुरों से है लिया ॥ ७३ ॥

क्रुद्ध देवी ने कहा, हो यह बली
 किन्तु मन मेरा न तनता टेक है।
 हो सबल अथवा अगल पर वीर की
 सत्य ही होती प्रतिज्ञा एक है ॥ ५६ ॥

उस अमर्षित दूत ने जाकर कहा
 पार्वती के गर्भ को विस्तार से।
 धूम्रलोचन की बुला तत्काल ही
 दैत्य बोला शुभ कुपिताभार से ॥ ५७ ॥

जा त्वरित ले साथ दानव राहिनी
 दुष्ट है यह गर्विता गिरि में जहाँ।
 केश र्पण से प्रियश करते हुए
 धर्पणा पूर्वक उसे लाभो यहाँ ॥ ५१ ॥

देव जो उसके सहायक हों वहा
 अन्य कोई यत्न भी रक्षक बर्ने।
 जो मिले अथवा वहा सुरवंश का
 शीघ्र ही उसको असुर बल से हर्ने ॥ ५२ ॥

धूम्रलोचन शुभ के आदेश से
 सैन्य लेकर शृंग के उपर चदा।
 क्रुद्ध कुत्र कहता हुआ आवेश से
 पार्वती के पास आने को बदा ॥ ५३ ॥

देवते ही वंग से आते उसे
 उपनर हुमार देवी ने लिया ।
 तेन से क्षण मे दहनरर दैत्य को
 भस्म सा निष्प्राण भूतल पर किया ॥ ८४ ॥

अविना चढ सिंह पर अति कोप से
 चाप भीषण को चढा शर-वर्ष से ।
 शत्रु-सेना को लगी संहारने
 मत्त सी होकर महारण-हर्ष से ॥ ८५ ॥

धीरता संहारता हुकारता
 गर्जता धनि शत्रुवर्ण-भयङ्करी ।
 धीर उस रण मे भयङ्कर सा घुसा
 धीरता साकार जैसे केमरी ॥ ८६ ॥

पीस देता गह किमी को पैर से
 कृद कपट सा किसी को फाँता ।
 फोड करके तीव्र पर्जों से कहीं
 दानवों का दर्प सारा भाडता ॥ ८७ ॥

एत होकर दानवों के रक्त से
 काल सा रण मे लगा यह डोलने ।
 पापियों के देह दाँतों से उठा
 पाप को जैसे लगा यह तोलने ॥ ८८ ॥

शृग पर श्रीपार्वती के तेज से
 युद्ध में जय दैत्य सत्र मारे गये ।
 शुभ से जाकर कहा तब दूत ने
 धूम्रलोचन आदि सहारे गये ॥६॥

मुवन-नयन-चन्द्रिका लमा के
 मधुर सुधा यदि चन्द्रहास मे है ।
 प्रकट कुपित काल भी उसी के
 विषघर-भीषण चन्द्रहास मे है ॥ ६० ॥

त्रयोदश सर्ग

देवी के फल कोप का वह मिला उदण्ड धूम्राक्ष को
पाता जो फल साहसी शलभ है जा आग के सामने ।
मित्रों से यह शब्द शुभ सुन के बोला जुला चण्ड को
लायें आप स मुण्ड सज्जन उहाँ, लायें उसे या हर्ने ॥ १ ॥

दोनों दैत्य अपार लेकर चले सेना महादानवी
आगे काञ्चनशृंग के निरुट भे श्रीपार्वती थी जहाँ ।
दृष्टा भीषण कैसरी पर चढी तेजस्विनी मूर्ति को
मायावी करने लगे ग्रहण का उद्योग सारे वहाँ ॥ २ ॥

आती देख चमू विशाल रिपु की आदेश से क्रोध के
देवी का अति गौर भी मुद्र रंगा जैसे मसी रंग से ।
आविर्भूत हुई ललाट तट से तत्काल ही कालिका
जैसे धूमशिला उठी विकट सी संयुक्त गट्ट्याङ्ग से ॥ ३ ॥

शृग पर श्रीपार्वती के तेज से
 युद्ध में जत्र दैत्य सब मारे गये ।
 शुभ से जाकर रुहा तत्र दूत ने
 धूम्रलोचन आदि सहारे गये, ॥ ८६ ॥

मुवन-नयन-चन्द्रिका उमा के
 मधुर सुधा यदि चन्द्रहास मे है ।
 प्रकट कुपित काल भी उसी के
 विषघर-भीषण चन्द्रहास मे है ॥ ६० ॥



त्रयोदश सर्ग

देवी के फल कोप का वह मिला उदण्ड धूम्राक्ष को
पाता जो फल साहसी शलभ है जा आग के सामने ।
मित्रों से यह शब्द शुभ मुन के बोला बुला चण्ड को
जायें आप स मुण्ड सज्जित यहाँ, लायें उसे या हनें ॥ १ ॥

दोनों दैत्य अपार लेकर चले सेना महादानवी
आये पाञ्चनशृंग के निकट मे श्रीपार्वती थी जहाँ ।
दर्रा भीषण केसरी पर चढ़ी तेजस्विनी मूर्ति को
मायावी करने लगे प्रहरण का उद्योग सारे यहाँ ॥ २ ॥

आती देख चमू विशाल रिपु की आवेश से क्रोध के
देवी का धृति गौर भी मुल रँगा जैसे मसी रंग से ।
आग्निभूत हुई ललाट-तट से तत्काल ही कालिका
जैसे धूमशिखा उठी विकट सी संयुक्त पटवाङ्ग से ॥ ३ ॥

जिह्वा लोल महाकराल उदना शार्दूल चर्माम्बरा
 आँसु लाल कराल केश त्रिगुरे माला धरे मुण्ड की ।
 शुष्माङ्गी कुपित-स्वभाव भयदा चण्डाट्टहास स्वना
 काली कंपित स्तम्भ लेखर चली राने लगी सैन्य को ॥ ४ ॥

घंटा हौद समेत भक्त चलते मातंग को कुन्त से
 भूखे भैरव के लिए फल मा उचे उठाने लगी ।
 आरोही रथ सारथी तुरग को ले गुरु ही माथ मे
 मूली गाजर सा समेट मुख मे चण्डी चवाने लगी ॥ ५ ॥

पीछे भोंक पट्टाडती हँकडती यक्ष्मथली फाडती
 आगे दौड मरोड गरित कहीं प्रीता लगी मोडने ।
 भाला भोंक उडालती ममलती भारी गदाघात से
 सूखे श्रीफल से कपाल उनके देरी लगी फोडने ॥ ६ ॥

धूर्तों को धर मार मार उनकी धज्जी उडा दी कहीं
 खड्गों से कर गण्ड गण्ड शय से पथरी लगी पाटने ।
 जैसे ईस उग्राड तोड रस दी मोटी भुजायें कहीं
 चक्रों से चट चीर चीर उनकी धोटी लगी घोटने ॥ ७ ॥

चण्डी उद्भट देस चण्ड सहसा आगे चला मुण्ड भी
 धारणों की अति तीव्र वेग रण मे धारा बहाते हुए ।
 काली के मुख मे प्रवेश करते थे बाण वे दीसते
 काले गरिद मे असत्य यमिता जैसे समाते हुए ॥ ८ ॥

देवे दानय दो समस्त बढते कोपी महाकालिका
 वीरिणी ले तलवार तत्क्षण उठी उन्मात्त सी हो चली ।
 खोला आनन अट्टनाद करके ज्यों ही महाभाल मा
 भागे शत्रु सरक्त देख ज्मकी दुर्दर्श दन्तावली ॥ ६ ॥

दोनों के गह केश एर पर मे निर्दिश ले अन्य मे
 पाटे चञ्चल चण्ड मुण्ड पशु दो श्रीकालिका ने बहा ।
 दोनों मुण्ड सरक्त लेशर चली बोली महाशक्ति से
 लाई हूँ उपहार युग्म रण से हे अम्बिके । लो यहाँ ॥ १० ॥

देवे शोणित लिप्त चिन्न मिर दो ज्यों चण्ड के मुण्ड के
 बोली हर्षित अम्बिका विजयिनी तू कालिका धय हूँ ।
 तू ने दत्कट चण्ड मुण्ड दलना संहार है जो किया
 चामुण्डा इम नाम से जगत मे पूजा लहेगी सदा ॥ ११ ॥

दूतों से जब चण्ड मुण्ड-बध का वृत्तात्त सारा सुना
 पायी शुभ निशुभ के हृदय मे चिन्ता चिता सी जली ।
 सेनानी-समुदाय को तुरत ही आदेश दे युद्ध का
 आगे ने म्ययमेव गरित चले पीछे चमू मण्डली ॥ १२ ॥

पौत्री-कालक-भालनेय-कुल के मूरादि के वश के
 आये दैत्य पचाम कोटि रण मे दैत्येश के साथ मे ।
 भारी देख समुद्र सी उमडती शुभासुरी वाहिनी
 देवी सज हुई स्वयं धनुष को टंकारती हाथ में ॥ १३ ॥

व्यापा चाप निनाद घोर उसना भूव्योम के मध्य मे
 देवीगाहन सिंह भी कुपित हो आगे लगा गर्जने ।
 दोनों के रप को महागगन मे नीचे दबानी हुई
 दुष्टों को घननाद घोर करके काली लगी तर्जने ॥ १४ ॥

देवों के अनुरूप वाहन तथा शस्त्रादि से सज्जिता
 चामुण्डादल मे उपस्थित हुई सारी वहा देवियाँ ।
 ब्रह्माणी कर मे कमण्डलु लिए माला बरे अक्ष की
 आई हंसविमान से भुवन मे आलोक सा द्या गया ॥ १५ ॥

श्रीदेवी गरुडध्वजा गरुड से चक्रायुधा वैष्णवी
 इन्द्राणी गज से सहस्रनयना वज्रच्छटामण्डिता ।
 रुद्राणी वृषभध्वजा भवती आई वृष-स्वन्ध से
 कौमारी उतरी मयूर-रथ से शक्ति-प्रभा-भूषिता ॥ १६ ॥

देत्यानीक पिदारिणी अमयदा देवी नृसिंही तथा
 वाराही प्रकटी महासमर मे दैत्य व्रज ध्वसिनी ।
 व्यूहों मे सुविभक्त दिव्य बल से जो एरु सेना सजी
 थी वे भिन्न पवित्र देव-कुल की देवी महाशक्तियाँ ॥ १७ ॥

देती सी रिपु को क्षमा तत्र शिवा बोली महादेव से
 हे शंभो । सुरदूत आप बन के जायें रुहें शुभ से ।
 त्यागें दानत्र देवदेश सहसा जायें यहा से चले
 चामुण्डादल अन्यथा अथ नहीं आगे करेगा क्षमा ॥ १८ ॥

दैत्यों के पति से निवेदन किया प्रस्ताव को शंभु ने
दुष्टों को मुरदेश मुक्त करके जाना न अन्धा लगा ।
आये लेकर शत्रु भेद शत्रु भी बोले महाशक्तियों ।
संहारो बल से विमर्षित करो दो दानवों को भगा ॥ १६ ॥

आज्ञा पाकर रुद्र की चढ़ चली सेना महाभैरवी
दौड़े संभुग्य शत्रु भी ममर मे सेना लिए दानवी ।
दैवी गर्भित शक्ति आत्मबल से शस्त्रास्त्र से आसुरी
दोनों फाल अक्षय को शत्रु की देने लगीं दक्षिणा ॥ २० ॥

वात्या सी अति शीघ्र शक्तिदल के आगे चली कालिका
ऊँचे दानव तोड़ तोड़ तरु सा नीचे गिराने लगी ।
ब्रह्माणी निज मन्त्र मिद्ध जल के आसेक से ही वर्षों
किर्णव्य विमूढ तेजहत से बैरी बनाने लगी ॥ २१ ॥

रद्राणी शत्रु शूल से अरिगणों को वैष्णवी चक्र से
कौमारी निज शक्ति से कुलिश से गेन्द्री लगी फाटने ।
वाराही निज तुण्ड से, नखर से तीखे नृसिंही तथा
दुष्टों को गर रज्ज लेकर महाचण्डी लगी चाटने ॥ २२ ॥

देखा घोर विनाश दैत्यदल का दैवी महाशक्ति से
आया दानव रक्तनीज रण मे मारी गदा को गद्दे ।
श्रमों से यदि रक्त विन्दु उसके आती चली भूमि मे
गोधा अन्य उसी-समान उससे उत्पन्न होते रहे ॥ २३ ॥

गेन्द्री ने उम दैत्य को समर मे ज्यों ही हना वज्र से
 त्यों ही पीन शरीर से रविर की अश्रान्त धारा चली ।
 रक्तों के कण से लगे उपजने योधा अमर्यों वहा
 ले ले घोर गदा बले असुर वे तत्काल आगे बली ॥ २४ ॥

देखा शोणित विन्दु से उपजते रत्नासुरी संघ की
 चण्डी से कहने लगी भगवती आदेश देती हुई ।
 चामुण्डा ! मुख को विशाल कर ले घोरा शिखरूपिणी
 वैरी की यह वृद्धि दूर कर ते तूरख लेती हुई ॥ २५ ॥

शूलों से अमि से तथा परशु से महेन्द्ररी शक्ति के
 पापी का अति पीन देह सहसा नीरक्त होने लगा ।
 चामुण्डा भरने लगी रुधिर के गाली घडे प्यास से
 प्राणों को तत्र रक्तरीज रज मे निम्तेज सोने लगा ॥ २६ ॥

देखा दैत्य निशुभ ने समर मे ज्यों ही उसे जूमते
 चामुण्डादल के समीप सहसा आया रथारूढ हो ।
 बाणों से उसके महाकृपित मी देरी महाशक्ति भी
 वैरी के दल को लगी विदलने पञ्चाननारूढ हो ॥ २७ ॥

कृदा सिंह समीप दैत्य रथ के देवी उठी घात में
 भारा शूल निशुभ के हृदय में छाया पड़ी मन्द सी ।
 अर्गों को धुनठा हुआ सर यथा नीचे लगा लोटने
 जिह्वा आ निकली सफेन मुख से आँसुं हुई बन्द सी ॥ २८ ॥

दया सगर में गिरा अनुज को आया स्वयं शुभ भी
 देवी को कहने लगा कुपित हो "ओ गर्विते ! आय हों"
 चामुण्डादल के विशाल बल से है गर्व तेरा वृथा
 जो बातें प्रण की नहीं प्रथम थीं हैं शक्ति तेरी कहीं ? ॥ २६ ॥

सेना के बध मात्र से कर रही क्यों शक्ति का गर्व तू ?
 है तेरे यदि दर्प बाहु-बल का तो मल्लसंप्राम हो ।
 होवे निर्णय आज मल्लरण से देवासुरी युद्ध का
 दोनों ही दल दूर हों, समर का तत्काल विश्राम हो ॥ २७ ॥

धोली श्रीजगदम्बिका असुर से रे नीच दुष्टाधम !
 है प्रत्यक्ष तुम्हें न देवकुल में मेरी छिपी शक्ति का ।
 मैं हूँ एक अजेय शक्ति इनमें ऐसी जगद्व्यापिनी
 सोचूँ तो क्षण में विनाश कर दूँ मैं दानवीशक्ति का ॥ २९ ॥

देवी यों रुह मल्लवेप सहसा आगे बढ़ी शुभ के
 आक्षा ले सब देवियाँ समर से प्रच्छन्न होने लगीं ।
 ज्यों ही दानव को पुमान्तर हना भूखण्ड में दण्ड मा
 फूलों की अपिराम वृष्टि नभ से तत्काल होने लगी ॥ ३२ ॥

वेधा दानव के कठोर उर में श्लाघ को वेग से
 देवाराति हुआ गतासु यम के सोने लगा अंक में ।
 देवों के शुचि देग से गत हुई छाया महापाप की
 जागे भूतलभाग्य भूरि, चिर से जो मग्न थे पंक में ॥ ३३ ॥

सारा विश्व हुआ प्रसन्न मन में उन्मुक्त आतंक से
 यज्ञों में फिर शान्ति से थनल भी लेने लगी हव्य को ।
 फूले पञ्ज वायु शीतल बही शोभा लसी व्योम में
 गायें ही सब कामधेनु फिर से देने लगीं गव्य को ॥ ३४ ॥

देवों की विजयध्वजा बह रही थी गर्भ से विश्व को
 मैं हूँ एक अजेय शक्ति रिपु से सीखा नहीं भीति है ।
 दुष्टों की चिरकाल है न चलती माया यहा आसुरी
 प्राचीना सुरसभ्यता न तजती स्वाधीनता नीति है ॥ ३५ ॥

सिंहाधिरूढ रण सज्जित पार्वती को
 शैलाधिराज पर शोभित थी पताका ।
 आरंभ पूजन हुआ सुरमण्डली में
 नारायणी स्तवन से जगदम्बिका का ॥ ३६ ॥

चतुर्दश सर्ग

नारायणीस्तुति

सुरेन्द्रपैरी जब पार्वती के
त्रिशूल मे दैत्य हुआ गतासु ।
स्वतन्त्रता से तन देव सारे
मिले वहा हर्षितचित्त आशु ॥ १ ॥

सुरेन्द्रपरी को करके प्रणाम
सभक्ति संयोजित-युग्म-पाणि ।
प्रशस्त एक-स्वर भाव युक्त
विनम्र धोले स्तुति रम्यपाणी ॥ २ ॥

नमोस्तु विश्वेश्वरि दिव्यरूपे !
दया करो देवि महानुभावे !
प्रपन्न की दूर करो विपत्ति
दूरो अविद्या करुण-स्वभावे ! ॥ ३ ॥

हे पूज्य सनाश्रय जन्मभूमि ।
 तू एक है केवल विदग्धमाता ।
 अतन्तररत्ना सुजला सुपुष्पा
 मदान्नपूर्णा जय राष्ट्रमाता ॥ ४ ॥

अपार संसार-समुद्र में तू
 पवित्र है एक अनादि सेतु ।
 प्रसन्नता केवल आप की है
 यमुनगर में सुख शान्ति हेतु ॥ ५ ॥

हे व्याप्त तू यद्यपि एकरूपा
 हैं दिव्य तेरे पर दो स्वरूप ।
 अन्वीक्षिणी वेद-पुराण विद्या
 स्त्रीजाति सन्तानवती मनोक्षा ॥ ६ ॥

काष्ठा-शला रात्रि दिन-स्वरूपी
 है रूप तेरा परिणाम-कारी ।
 अचित्य है अद्भुत कालरूपे !
 नारायणी देवि । नमो नमस्ते ॥ ७ ॥

हे प्राणदाता । शरणागतों की
 हे प्राणदाता । परिपीड़ितों की ।
 हे दीन के हेतु दयार्द्रचित्त ।
 नारायणी देवि । नमो नमस्ते ॥ ८ ॥

अनेक प्राधा भय वाधती हो
 सर्वार्थ को भी तुम साधती हो ।
 शिवा महामंगलमूल गौरी ।
 नारायणी देवि ! नमो नमस्ते ॥ ९ ॥

लिए करो मे पर अक्षमाला
 सुपात्र मे पात्रन पारिधारा ।
 हे हसयानस्थित ब्रह्मशक्ति ।
 नारायणी देवि ! नमो नमस्ते ॥ १० ॥

त्रिशूलहस्ता वृषभाधिरदा
 भुजंगहारा धृतचन्द्ररेखा ।
 माहेश्वरी हो तुम सिद्धशक्ति
 नारायणी देवि ! नमो नमस्ते ॥ ११ ॥

धन्या-गदा-वारिज-चक्रधारी
 हैं चार तेरे कर त्रिदशमारी ।
 हे विश्वरक्षारत विष्णुशक्ति ।
 नारायणी देवि ! नमो नमस्ते ॥ १२ ॥

हैं भूमि को दैत्य जहा दनाते
 अन्याय के सागर मे डुनाते ।
 है तू यहा आदि वराहशक्ति
 नारायणी देवि ! नमो नमस्ते ॥ १३ ॥

कराल जो अद्भुत रूप धारे
 कराम से दानव को विदारे ।
 है तू वही घोर नृसिंहशक्ति
 नारायणी देवि नमो नमस्ते ॥ १४ ॥

है रूप तेरा असुरान्तकारी
 मयूर है वाहन ब्रह्मचारी ।
 तू है महाशक्ति सदा कुमारी
 नारायणी देवि । नमो नमस्ते ॥ १५ ॥

किरीटिनी वज्र लिए खडी है
 सहस्र अंगों अरि पै चढी हैं ।
 महागजासीन महेन्द्रशक्ति ।
 नारायणी देवि । नमो नमस्ते ॥ १६ ॥

दुर्दश दंष्ट्रा मुग्न है विशाल
 है खड्ग तेरा रिपुश-काल ।
 काली कराली धृतमुण्डमाले ।
 नारायणी देवि । नमो नमस्ते ॥ १७ ॥

सर्वेश्वरी हो तुम सर्वरूपा
 हो पूर्ण सारी तुम शक्तियों से ।
 सदा भयों से हम को बचाओ
 नारायणी देवि । नमो नमस्ते ॥ १८ ॥

त्रिनेत्र विभ्राजित विश्वभासी
 प्रसन्न तेरा मुख रूप राशि ।
 रक्षा करे सतत दानवों से
 नारायणी देवि । नमो नमस्ते ॥ १६ ॥

महाप्रचण्ड ध्वनि जो सुनाता
 है दानवों को रण मे भगाता ।
 तेरा उही जागृति-नाद घंटा
 प्रमाद से नित्य हमे उबारे ॥ २० ॥

जो रक्तधारा रण मे बहाती
 है जो उसीमे अरि को डुनाती ।
 तेरी वही घोर कृपाण-धारा
 सदैव कल्याण करे हमारा ॥ २१ ॥

संतुष्ट हो रोग सभी मिटाओ
 अतुष्ट हो काम नहीं नशाओ ।
 अनन्य तेरे हम मक्त धन्य
 रहें सदा आश्रय मे प्रसन्न ॥ २२ ॥

तू ने कई अद्भुत रूप धारे
 अनेक हैं दानव उग्र मारे ।
 है एक भी तू बहुधात्ममूर्ति
 नमो महाशक्ति अचिन्त्यमूर्ति ! ॥ २३ ॥

भरे जहा हों त्रिप से भुवंग
उठे जहा सागर मे तरंग ।
चले जहा घण्ट महानमीर
दवाग्नि ही लग्न जहा अधीर ॥ २४ ॥

अधर्म से धर्म जहा गिरा हो
अनेक हिंसा-द्वल से घिरा हो ।
परें जहा राक्षस त्रिदशताप
वहा करे प्राण तय प्रताप ॥ २५ ॥

हों दूर उत्पाठ भयोपसर्ग
संसार के पातक दुखदाता ।
तेरी सदा दृष्टि रहे दयार्द्र
यहा हमे दो परदान माता ॥ २६ ॥

जहा कहीं भी हम दुख पायें
जहा तुम्हे संकट में उलाहँ ।
तेरा वहा उज्ज्वल चन्द्रदास
करे हमारे दुख का विनाश ॥ २७ ॥

हे सर्व त्रिदश भय भंजनि देवि ! तेरा
दे विद्व को अभय नित्य सृगेन्द्रनाद ।
संप्राप्त हो भुवन मे हमको सदा ही
कल्याणमूल भयदीय घर प्रसाद ॥ २८ ॥

ब्रजेश गोरक्षरु नन्द होंगे
 तथा यशोदा ब्रजराजरानी ।
 होगी उसी के शुभ गर्भ से ही
 तेजस्विनी नन्दमुता भरानी ॥ ४ ॥

वही करेगी कलि दानवों का
 विनाश गोपव्रज की तनूजा ।
 सदैव विन्ध्याचल मे लहेगी
 वही महाशक्ति विशेष पूजा ॥ ५ ॥

अकाल का भीषण काल होगा
 होगी कई वर्ष नहीं सुवृष्टि ।
 दुर्भिक्ष से पीडित मानवों पे
 मेरी पडेगी शतसंख्य दृष्टि ॥ ६ ॥

मनुष्य के हेतु कई पत्रि
 मैं शाक उत्पन्न वहा करूंगी ।
 जाकम्भरी हो अथवा शताक्षी
 दुर्भिक्षता भारत की हूँगी ॥ ७ ॥

मदान्ध जो दानव दुर्ग होगा
 उसे गणों मे जब मैं हनूंगी ।
 त्रिदारिणी दुर्गति दीनता की
 प्रमिद्ध दुर्गा तब मैं बनूंगी ॥ ८ ॥

विख्यात जो आरण दैत्य राजा
 होगा महादारण विश्वतापी ।
 तो भ्रामरी का अवतार मेरा
 अवश्य होगा उसका समापी ॥ ६ ॥

होगी जहा भू पर दस्युगाथा
 जहाँ लहेंगे जन साधु शूल ।
 वहा कहीं शाश्वत एक शक्ति
 उत्पन्न होगी समयानुकूल ॥ १० ॥

महापत्रिन्नु स्तुतिपाठ मेरा
 जो भी करेंगे नर भक्तियुक्त ।
 मैं सर्वगाथा उनकी हरुंगी
 सदा रहेंगे मय दुःख मुक्त ॥ ११ ॥

संहारगाथा मधु-कैटभों की
 चरित्र मेरा महियान्तकारी ।
 निशुभ शुभादि विनाश-लीला
 हैं शक्ति के तीन महत्व भारी ॥ १२ ॥

मदा पढ़ेंगे नर भक्ति से जो
 तीनों महाशक्ति-गाथा पवित्र ।
 होगी नहीं दुष्कृत जन्य पीडा
 न दुःख देंगे उनसे अमित्र ॥ १३ ॥

वरिद्रता, इष्टप्रियोग-दुःख,
त्रिताप, पापग्रह, रोग, मारी ।
दुर्देव, श्राद्धी, जल, अग्नि, शाप
कभी न होंगे उनके विचारी ॥ १४ ॥

महास्त्रमपात नहीं रणों में
न सिंह शार्दूल कहीं रणों में ।
होंगे नहीं तस्यु अनिष्टकारी
न दुःख देगा नृप नृप भारी ॥ १५ ॥

विवाह, पूजा, व्रत, होम, यज्ञ
करें जहाँ उत्सव का विधान ।
यहाँ घरों में सुरमन्दिरों में
पदों इसे मनन साधना ॥ १६ ॥

दुःस्वप्न का दर्शन, दुर्निमित्त,
प्ररोप बालग्रह का जहा हो ।
पुद्गल में मंगलशान्तिकारी
चरित्र का पाठ मना यहाँ हो ॥ १७ ॥

होती शरत्काल यमराज में है
जो चण्डिका की तराय भक्ति ।
पदों यहाँ मन्त्रगती-परिय
लहो रानी में मुक्त विल गति ॥ १८ ॥

एकान्त मे बन्धन मे पडे हों
 अमित्र पीछे जिसके पडे हों ।
 महानदी-पर्यंत में छरे हों
 अरण्य के जन्तु जहा मरे हों ॥ १६ ॥

जहा सत्तों का दल आ रहा हो
 अत्याय का शासन छा रहा हो ।
 अन्नार्थ हों दानय गर्व माते
 अनेक आर्तन जहा मचाते ॥ २० ॥

कराल सा कोप जहा जगा हो
 वधार्थ भी शूल जहा लगा हो ।
 वहा महाशक्ति चरित्र सूत्र
 सदा करेगा भय से विमुक्त ॥ २१ ॥

अशेष उत्पीडन वेदनाएँ
 व्यामोह विद्वेष भय व्यथाएँ ।
 मैं विश्व से दूर सदा बरूगी
 नारी महासंकट की घटाएँ ॥ २२ ॥

हुई उसी पर्वत में अदृश्य
 सुरेश्वरी देकर सुप्रबोध ।
 स्वदेश को देस समृद्धिशाली
 हुआ सुरों को निज शक्ति बोध ॥ २६ ॥

यहा हुई पूर्ण सख्यती के
 चरित्र की चारु कथा पुरानी ।
 मन्दिं वोजे फिर सख्यदर्शी
 हैं मोद का हेतु यही भवानी ॥ २४ ॥

फहे गये हैं वस शादरती की
 उत्पत्ति के तीव गहों प्रसार ।
 हैं व्याज मेती परदान तो भी
 अव्यक्त भी है यह तिरिमार ॥ २५ ॥

है निन्द की सृष्टि यही रचाती
 मन्दिं की मित्रि मदा करानी ।
 है नेत्र में निग्य यही गिरानी
 विशास की ज्योत करी गगनी ॥ २६ ॥

है मोह की कारण एक माया
 यही समाधान यदा सुनाया ।
 न आज ही किंतु अतीत मे भी
 था दिव्य मे दारुण मोह द्वाया ॥ २६ ॥

विद्वान भी मोहित हो चुके हैं
 होंगे पुन मोहित भी अनेक ।
 इसीलिये संप्रति आपरा भी
 है मोह से मन्द हुआ विवेक ॥ ३० ॥

विपत्ति में है गति एक तेरी
 बनो उमीका चरणानुसेरी ।
 दयामयी है वह दिव्यधात्री
 विभूति-विद्या-अपवर्ग-दात्री ॥ ३१ ॥

उपासना मे उसकी मिटेगा
 स्वदेश का घोर कुभाग्ययोग ।
 समाधि को भी उसकी कृपा से
 न डुग देगा गृह का वियोग ॥ ३२ ॥

अचित्य अज्ञेय तथा अलक्ष्य
 अतर्क्य है यद्यपि दिव्यशक्ति ।
 पाती उसे किन्तु उपासना से
 श्रद्धामयी केवल नम्र भक्ति ॥ ३३ ॥

अतीव है शक्ति रहस्य गूढ़
 न जान पाते उसको प्रियादी ।
 न संशयी नास्ति गर्भयुक्त
 न मत्मरी वार्तिक युक्तिगदी ॥ ३४ ॥

है बुद्धि तो मात्र की अगुद
 वीनों गुणों की पर है विचार ।
 विचारिणी तो कन लक्ष्य होगा
 जो तत्त्व है निर्गुण निर्दिष्टार ? ॥ ३५ ॥

जहां भरे हैं भ्रम लोभ मोह
 जो क्रोध में है करती अनर्थ ।
 होगी वही बुद्धि जडस्वरूपा
 क्या सत्य के निर्णय में समर्थ ? ॥ ३६ ॥

हों तत्त्व जो लौकिक बोधगम्य
 है युक्त भी तर्क चहा यदना ।
 अतर्क्य में तर्क विवाद-युक्ति
 अयोग्यता है तिन की दिखाना ॥ ३७ ॥

है बुद्धि से भी पर दिव्य शक्ति
 देवी स्वयज्योति विकासमाना ।
 विश्राम में तो वह मक्त के है
 प्रत्यक्ष ही नित्य विराजमाना ॥ ३८ ॥

मजें उसी को उठ काल थाप
विश्वास से होकर मूक अन्ध ।
उद्भूत होगी यह साग्रना से
जैसे कली में स्वयमेव गन्ध ॥ ३६ ॥

हैं सिद्धि के साधक सिद्ध तन्त्र
देवीमहासूक्त नगार्ण मन्त्र ।
जपो इसे होकर शुद्धभाव
देखो महमन्त्र-जप प्रभाव ॥ ४० ॥

विधान से दे तब मात्र दीक्षा
किया ऋथा का मुनि ने विराम ।
नरेन्द्र के साथ समाधि ने भी
किया सुमेधा गुरु को प्रणाम ॥ ४१ ॥

अवगत जा दोनों को हुआ मोह हेतु
पर सरल नहीं है मुक्ति की भी समस्या ।
घनतिमिर निराशा दुःख के नाश हेतु
अति कठिन अभी तो साधनी है तपस्या ॥ ४२ ॥



षोडश सर्ग

हैं नहीं गगन मे घन थोंगी
प्रात भी विगत, रात नहीं है ।
मन्द भानु-मुखमण्डल-शोभा
किंतु आज अरदात नहीं है ॥ १ ॥

धूलि धूसरित दीप्त रही है
कान्तिहीन अति सिद्ध दिनश्री ।
मौनता-क्लित कोमलधाला
दायताप-भयभीत वनश्री ॥ २ ॥

धूम संकुलित अन्ध दिशाएँ
तोय से रहित निर्भर वापी ।
क्यों निदाघ दहता जगती को
दर्प से दनुज है यह पापी ? ॥ ३ ॥

पाप-पंक-घर शूकर सारे
 दस्यु से अभय डोल रहे हैं ।
 ग्लानि से मनुज-तुल्य मनस्वी
 कज भी न मुख रोल रहे हैं ॥ ४ ॥

वाप से व्यथित कानन में भी
 वच जीर सन हैं अमुलाते ।
 व्यग्र व्यग्रगति से सरिता के
 पास प्यासपश हैं मिल आते ॥ ५ ॥

देख शत्रुजलदागम आगे
 ज्येष्ठ भी समय भाग चला है ।
 शुभ्र हैं न कर भी सरिता के
 ताप उग्र पर जाग चला है ॥ ६ ॥

घारि शान्त, शुचि शीतल धारा
 रम्य तीर्थ, मुनिवाम यही है ।
 तीरभूमि मृदु है सिकता से
 किंतु हृदय अभिराम नहीं है ॥ ७ ॥

हैं निवृत्त मुनि मज्जन से भी
 एक याम दिन दूर चढ़ा है ।
 धूल है न सहती पद तो भी
 क्यों अपार यह कोप धड़ा है ? ॥ ८ ॥

टै पराल यठ फाल विदाही
 विश्व में अमित आग जलाये ।
 तप्त तीर पर किन्तु उसीमें
 ध्यान है युगल भक्त लगाये ॥ ६ ॥

शान्त शुद्ध कर में रख माला
 दात गौन मन में जप जापी ।
 आज्य-दीप्त-हृदनाग्नि शिरसा से
 तप्त फान्ततनु हैं तप-तापी ॥ १० ॥

शक्तिमूर्ति धरणीमय देवी
 अम्बिका विपुलकेशादम्बा ।
 सिंहपीठ पर हैं स्थित आगे
 दैत्य-दर्प-दलनी जगदम्बा ॥ ११ ॥

गन्ध माल्य कुसुमाक्षत घूप
 दीप आदि घलितस्तु सजाये ।
 वे सभक्ति करके पदपूजा
 हैं अखण्ड उर-जोति जगाये ॥ १२ ॥

घेनुदुग्ध-शुचिकन्द-फलाशी
 यारिवृत्ति अथवा उपनासी ।
 हैं स्वर्गमरत साधक दोनों
 मौनवृत्ति अथवा मितभापी ॥ १३ ॥

फाय कर्म मन संयत चाणी
हों अभिन्न जिनके व्रतधारी ।
सत्य-शील-शम-भूपित वे हों
क्यों न योग्य तप के अधिकारी ? ॥ १४ ॥

एक शान्तिमय तीर्थनिवासी
एक भोंति गुरु-शक्ति-उपासी ।
एकरूप तप मे रत भी वे
हैं न एक फल के अभिलाषी ॥ १५ ॥

एक योग जप साधन एक
इष्ट एक गुरु मन्ना न भिन्न ।
षट्मूल उनके मन मे हैं
किन्तु कर्मवश मोह विभिन्न ॥ १६ ॥

एक के हृदय-मध्य भरा है
नष्ट राज्य-ममतामय मोह ।
एक के हृदय को दहता है
गोह-वित्त-सुत-दार-विलोह ॥ १७ ॥

एक के प्रबल शत्रु विदेशी
स्नेच्छ हैं अशुचि आर्य विरोधी ।
लोभ मोह निज अन्तर-वैरी
एक के सुकृत-कार्य-विरोधी ॥ १८ ॥

एक के निहित मानम मे है
 देश धर्म-मुख का अभिमान ।
 भूलता निमिष मात्र नहीं है
 एक को स्वजन से अपमान ॥ १६ ॥

एक को न निज जमधरा मे
 सह्य है असुरशासन-पास ।
 अन्य को न रुचता कुछ भी है
 ज्ञानदानिकर भोग विलास ॥ २० ॥

एक काय-मन से वचनों से
 देश मुक्ति-हित है अनुरागी ।
 गेह बन्धु तज बन्धनरूपी
 आत्ममुक्ति-हित एक प्रिरागी ॥ २१ ॥

एक जीतकर दानवता को
 चाहता त्वरित है प्रतिशोध ।
 युक्ति से अपर भी लप्तता है
 मृत्यु के विजय हेतु सुबोध ॥ २२ ॥

एक का चरम लक्ष्य यहीं है
 विश्व सगठन मे शुभ योग ।
 एक का अचल है सुख लक्ष्य
 सारहीन-चल-सौरय-वियोग ॥ २३ ॥

दूर हो असुर भारतभू से
 एक की मरस है अभिलाषा ।
 ताप-तप्त उर मे उमडी है
 एक के प्रजल मुक्ति पिपासा ॥ २४ ॥

एक के हृदय में सचियों का
 द्रोह-कार्य घणतुल्य दरा है ।
 एक के शरण में गृहिणी का
 तीक्ष्ण दुर्वचन वाण भरा है ॥ २५ ॥

विग्ररूप बहुधा उठते हैं
 भिन्न मानसिक भाव तरंग ।
 है अकम्प पर जो दृढचेता
 शक्य है न उनका घत-भंग ॥ २६ ॥

नित्य कर्मरति ईश्वरभक्ति
 धर्मशास्त्ररुचि शुद्ध विवेक ।
 ध्यान योग उनसे करते हैं
 दूर सिद्धिपथ-विघ्न अनेक ॥ २७ ॥

सिद्धिमूल गुरुदेवजनों की
 स्नेहपूर्ण करुणा रहती है ।
 साध्य-लक्ष्य पर साधन-नौका
 सानुमूल उनकी दहती है ॥ २८ ॥

सूक्तपाठ करके, जप मन्त्र
चित्त शोध, रस चारु चरित्र ।
प्राण संयमन से उनका है
हो रहा विमल भाव पवित्र ॥ २६ ॥

एक एक करके तप के व्यो
नित्य रात दिन बीत रहे हैं ।
वे तपोनिरत शान्त तपस्वी
द्वन्द्व दुःख सब जीत रहे हैं ॥ ३० ॥

उष्ण शीत जलवृष्टि हिमानी
प्यास भूख सुख से सहते हैं ।
फीट दश-युत निर्जन में भी
धीर वृद्ध सम वे रहते हैं ॥ ३१ ॥

देखते दिवस में उनके हैं
उग्र ताप सरिता धन शास्त्री ।
अन्धकारमय किन्तु निशा में
एक मात्र उड्डे हैं अत सास्त्री ॥ ३२ ॥

क्षीण काय उनके दिन में जो
अण्ड निष्करुण भावु तपाता ।
चन्द्र शीत कर से उनको है
रात में अमृत सींच बुझाता ॥ ३३ ॥

है प्रचण्ड चलती जन आँधी
 धैर्य हैं सहज भी तरु खोते ।
 धूल में थचल-तुल्य अकम्पी
 धीर वे न पर शक्ति होते ॥ ३४ ॥

धेयहेतु जिस भारतमू के
 भूप वैश्य तप साध रहे हैं ।
 देश की उस पवित्र धरा को
 गर्व से असुर राध रहे हैं ॥ ३५ ॥

धर्महीन धनलोलुप सारे
 हैं अमात्य रिपु के अनुमूल ।
 दस्यु से दलित आर्यधरा के
 भाग्यचक्र गति है प्रतिकूल ॥ ३६ ॥

राजभृत्य सब वेतनजीवी
 हैं अकार्य करते धन प्रन्वे ।
 हो रहे असुरशासन को भी
 गर्वहीन जिनके हृद कंधे ॥ ३७ ॥

धर्म की परम पावनता में
 पाप का उदय आज हुआ है ।
 था जहा सतत बुद्धि-विकारा
 हा । वहीं असुर राज्य हुआ है ॥ ३८ ॥

या जहा जगत् तृप्त मर्जों से
 त्याग मात्र नरजीवन-सार ।
 हा । उसी श्रवणि मे असुरों का
 हो रहा अशुभ है प्रतिचार ॥ ३६ ॥

स्वभिमान-चल-वैभवं-शाली
 हो जहाँ मनुज जाति सुशीला ।
 कालचक्र गति से वसमे ही
 क्यों अमन्य यह दानन लीला ? ॥ ४० ॥

भूरि कोश, अति दुर्गम दुर्ग,
 नीति गूढ, जनशक्ति अजेय ।
 हों जहा पुरुष वीर विजेता
 क्यों सुदेश वह दस्यु विवेय ? ॥ ४१ ॥

अग्रगण्य जिस भारत में हो
 सत्रयश रिपुसघ-विदारी ।
 क्यों प्रमाद वश चोर उसी मे
 हों प्रविष्ट धन-गौरव-हारी ? ॥ ४२ ॥

हो अनन्त जिसमे धनराशि
 दुग्धपूर्ण सरिता-सम गायें ।
 फामघेनु उम आर्यधरा को
 क्यों कुनाति बल से अपनायें ? ॥ ४३ ॥

स्वाधिगम्य निगमागम शिक्षा
ज्ञात सर्वविध शिल्प कला है ।
आर्यजाति त्रिदुषी यह तो भी
क्यों अरातिदल से विकला है ? ॥ ४४ ॥

एक एक रिपु चाट चुकी है
काल-जीभ निसर्ग अस्तिधारा ।
आन सधवल हीन वहाँ क्यों
हैं अलभ्य रिपुसिन्धु किनारा ? ॥ ४५ ॥

राष्ट्र पोत पतवार विना ही
दुसरे के भँवर-मध्य पडा है ।
दस्युचक्र-छल की लहरों में
शांतिहीन भयभीत खड़ा है ॥ ४६ ॥

आत्म बुद्धि बल मोह निशा में
मन्द-भाग्य-चश लुप्त हुआ है ।
आर्यत्रीरजननी अरुनी का
पूर्व बाहुबल सुप्त हुआ है ॥ ४७ ॥

प्रीप्सु दूर कर पावस आई
मेघ वारि वरसे मरपूर ।
राष्ट्र के हृदय का उसने भी
हो सका कठिन ताप न दूर ॥ ४८ ॥

दाव शाव हरिता वनराजी
 मोर हैं मधुर शब्द सुनाते ।
 रेत में फुपक कितु कहीं भी
 हैं नहीं मुदित सावन गाते ॥ ४६ ॥

चारु कोरकित गौर कवन्ध,
 वारिपूर्ण सर, कैरव फूले ।
 आज भी मवन-मध्य किसी के
 हैं नहीं रचित सुन्दर मूले ॥ ५० ॥

षाग में सुमन से हँसते हैं
 मालती रकुल केतक धेला ।
 किन्तु है न भरता पहले-सा
 तीज-पर्व पर मज्जन मेला ॥ ५१ ॥

पृष्टिघात सहती दुख से है
 कालमेघ तिमिरावृत आशा ।
 देखती चपल भी चपला है
 भूप-वैश्य-त्तप देश निराशा ॥ ५२ ॥

चारु है शरद से अब चन्द्र
 शुद्ध नीर नभ, मार्ग अपक ।
 दूर हैं न पर भारतभू के
 माल से मलिन दस्युकलक ॥ ५३ ॥

प्रात में प्रयत भक्त नहाते
 रात में गगन-दीप जले हैं ।
 है उदास यह दीपकमाला
 ध्वान्त-दस्यु जिससे न टले हैं ॥ ५४ ॥

व्योम में उदित उज्ज्वल तारे
 बारि में मुदित पंरुज हाम ।
 धर्म-लग्न परतन्त्र जनों का
 क्यों सगर्भ करते उपहास ? ॥ ५५ ॥

ह्रस्व है दिवस का परिमाण
 दीर्घ है तुहिनपात निशा मे ।
 वाण सी शिशिर-सीकर-युक्त
 है चली निपम वात दिशा मे ॥ ५६ ॥

शीत-शत्रु-भय से मविता भी
 शीघ्र शीघ्र रथ हाँक रहा है ।
 भारतीय इस हीन दशा को
 दूर से सटय भाँक रहा है ॥ ५७ ॥

छा रहा असुर सा कुहरा है
 जन्तु भी त्रिश हैं जडता से ।
 लग्न हैं नृपति वैश्य तथापि
 एकचित्त तप में दृढ़ता से ॥ ५८ ॥

देह है अधिक दुर्बल तो भी
चित्त में प्रिमल भाव जगा है ।
आत्मरूप अतिरोहित कोटि
भासने हृदय मध्य लगा है ॥ ५६ ॥

सिद्धि है न तप की अत्र दूर
हो चली विरत है अतु शीत ।
द्वन्द्व दुःख सहते तप ने ही
वर्ष है विरस तीन अतीत ॥ ६० ॥

स्वप्न में भगवती जगदम्ना
दे चुकी सफल दर्शन भी है ।
किन्तु दीन उन भक्तजनों के
चित्त में न परितोष अभी है ॥ ६१ ॥

महामाया मूर्ति स्तुति निरत पुष्पाञ्जलि रचे
सुमेधा के शिष्य प्रथम तप में जो निरत हैं ।
निराहारी मोनप्रत नियमधारी मुदित वे
मदा भक्तिश्रद्धा पुलकित तनु ध्यानरत हैं ॥ ६२ ॥

भ्रम-कुम्भति निराशा की जली मूर्ति होली
नर घर घर में हैं खेलते रंग रोली ।
थसुर शिशिर का है हो चला त्रास अन्त
नृप घर जगती में आ रहा है वसन्त ॥ ६३ ॥

सप्तदश सर्ग

ला रहा यह प्राण निशान्त मे
दिनस है सुखरूप मुखायना ।
यह अचेनन भी किस हेतु से
असिल विश्व सचेतन है बना ? ॥ १ ॥

अग्नि-अम्बर-नीर-समोर मे
किसलिए परिवर्तन आज है ?
कर रहा यह कौन शो शनै
उगत का मन नृतन साव है ? ॥ २ ॥

पुलकित यह अक्षुर से लता
मुदित है किसके अनुराग से ?
भर दिया क्षण मे किसने अहो ।
सुमन को शुचि गन्ध पराग से ? ॥ ३ ॥

वर सुसज्जित हैं नय पत्र से
ललित हैं उनसे कलिया लसी ।
भुवन मे यह आन नई नई
अमित सी किसकी छवि है वसी ? ॥ ४ ॥

कलित रम्य रसाल रसाल में
हरित पीत मनोहर बौर हैं ।
स्वजन कौन इन्हें पहना रहा
वर बनाकर सुन्दर मोर है ? ॥ ५ ॥

मधुकर-भ्रज गुञ्जित माधवी
सुरभि निम्न सिले करवीर हैं ।
त्वपलाश पनित्र पलाश भी
प्रिय मे किसके अति धीर हैं ? ॥ ६ ॥

मुकुल-लीचन से किस रूप को
निरखते तरु मुग्ध मधूक हैं ?
पिक पुकार रहे किसको यहा
वह कहा उनका प्रिय मूक है ? ॥ ७ ॥

सरस घूम मन प्रिय मञ्जरी
परभृता करती धन गान है ।
रमिक सा इम पद्मम राग का
धिवर कौन रहा यरदान है ? ॥ ८ ॥

रचित की किसने रचना नई
 मधुरता किसकी मधु मास मे ?
 रम रही किसकी रमणीयता
 कमल के मकरन्द सुवास मे ? ॥ ९ ॥

प्रिभव मे इस भोंति वसन्त के
 जन हुए नृप वैश्य कुतूहली ।
 श्रुति-अगोचर एक अरण्ड सी
 द्युति उनी क्षण गोचर हो चली ॥ १० ॥

हृदय तन्मय था जिस मूर्ति की
 अचल भक्ति तथा अनुराग मे ।
 अथ वही अदलोकित हो चली
 विमल मूर्ति जगत्-प्रतिभाग मे ॥ ११ ॥

मिट गया तम पाप जले सभी
 उस महातप के प्रतिभास से ।
 मिल गई तप को कृतकृत्यता
 उस अलौकिक आत्म विकास से ॥ १२ ॥

मुवन भास चला क्षण मात्र मे
 उस अरण्ड महाद्युति-दीप से ।
 लस चले उसको निज नेत्र से
 नृपति वैश्य नितान्त ममीप से ॥ १३ ॥

वह मृभास्पर जोति अपार सी
 जव नहीं टग मध्य समा सकी ।
 तव उसे रर मानस मध्य मे
 त्परित ही उनकी पलकें ढँकी ॥ १४ ॥

उस अनन्त विलाक्षण शक्ति की
 घटित देख दृढा हतुराज मे ।
 सहज सात्विक भाव जगा स्वर्य
 विनत साधु तथा नरराज मे ॥ १५ ॥

उस चर-स्थिर के अवलम्ब की
 वह चली रसना विरदावली ।
 हृदय मुग्ध लगा कुञ्ज गूँथने
 सुमन से अपने कुसुमावली ॥ १६ ॥

सरन ज्ज्वल-भाज सुवासिनी
 दुरित दुर्गति शोक-विनाशिनी ।
 विषय नृन्निद्धत-चित्त-विशोधिनी
 शयित भारतशक्ति-विधोधिनी ॥ १७ ॥

अलिल मानव की सुखकारिणी
 कठिन सत्सृति-चक्र निवारिणी ।
 स्मृत हुई यह भूति विधायिनी
 भगवती स्तुति रगल दायिनी ॥ १८ ॥

प्रद्वारूपे सदा एकरूप-स्थिते !
 विद्वरूपे सदा भिन्नरूप-स्थिते !
 हे निराकार-साकार-रूपस्थिते !
 अम्बिके कालिके देवि ! तुभ्यं नम ॥ १६ ॥

प्राणियों मे सदा प्राण रूप-स्थिते !
 इन्द्रियों मे सदा ज्ञान रूप-स्थिते !
 शुद्ध सरूप तू बुद्धि मे बोध है
 चित्त मे चेतना देवि ! तुभ्यं नम ॥ २० ॥

भूमि मे वायु मे धारि मे अग्नि मे
 तू रस-स्पर्श-शीतोष्णता-धर्म हैं ।
 व्योम मे शब्द चन्द्रार्क मे भासिता
 मूर्ति मे देवता देवि ! तुभ्यं नम ॥ २१ ॥

राष्ट्र मे नीति निर्व्याजता धर्म मे
 न्याय मे सत्यता विश्व मे शान्ति है ।
 आर्य मे शौच सतोष श्रद्धालुता
 जाति मे एकता देवि ! तुभ्यं नम ॥ २२ ॥

साधु मे त्याग अस्वार्थ कर्मण्यता
 आपृष्टा लोकसेवा अभोगैपणा ।
 गेह मे तू मदा सुम्रता गेहिनी
 नित्य यज्ञ क्रिया देवि ! तुभ्यं नम ॥ २३ ॥

शारदा बुद्धि तू विश्व निर्माण में
 शम्भु निष्काम की ब्रह्मविद्या उमा ।
 विष्णु की हे रमा वीर की हे क्षमा ।
 स्नेह की मूर्ति माँ ! देवि तुभ्यं नम ॥ २४ ॥

विद्य की मोह निद्रा महाभ्राति तू
 योगमाया जग मोहिनी रात्रि है ।
 हेतु जागति है तू जगत्सृष्टि में
 दिव्यरूपे ! महादेवि तुभ्यं नम ॥ २५ ॥

खड्गिनी शूलिनी हे गदाधारिणी ।
 चापिनी चक्रिणी कैटभ द्वेषिणी ।
 माहिपो मूलिनी ! कालिके चण्डिके !
 घोररूपे महाशक्ति ! तुभ्यं नम ॥ २६ ॥

चारु दिव्याम्बरा काति विभ्राजिता
 गौरवर्णा महारत्न से भूषिता ।
 मन्दमन्दस्मिता चन्द्रभासोज्ज्वला
 सौम्यरूपे महागौरि ! तुभ्यं नम ॥ २७ ॥

रक्तबीजादि की भस्त्रिनी शूल से
 चण्ड मुण्डादि की रण्डिनी सङ्ग से ।
 घोर शुभादि की घात्रिनी सिद्ध से
 दैत्यविध्वंसिनी शक्ति ! तुभ्यं नम ॥ २८ ॥

हे गजासीन ऐन्द्री महाप्रञ्जिणी !
 शूलहस्ता भवानी वृषारोहिणी !
 हंस-न्यान स्थिते । हे विमानस्थिते ।
 देव भूरक्षणी शक्ति । तुभ्य नम ॥ २६ ॥

नित्य आनन्द थी तू रचाती जहा
 तू बचाती जिसे थी सदा घात से ।
 दूर होते जहा अन्य के दुःख भी
 क्यों वहाँ दुःख की आज सीमा नहीं ? ॥ ३० ॥

रम होता जहा विश्व था यज्ञ से
 वास होता सदा स्वर्ग का था जहा ।
 क्यों उसी भूमि में भारतीया प्रजा
 सो रही आज सर्वस्व है सो चुकी ? ॥ ३१ ॥

पूजते माँ । तुम्हें भक्ति विश्वास से
 आज भी तो यहा आर्य सदृश है ।
 क्या कभी देखती है दयादृष्टि से
 जो मचाये यहाँ दैत्य विध्वंस है ॥ ३२ ॥

सिंह से भी कभी जो नहीं भीत थे
 हो रहा बंदरों से उन्हें घास है ।
 भूसुरों के सुरों के जहा गेह थे
 शूकरों का लरों का यहा वास है ॥ ३३ ॥

धेनु के भाग को सा रहीं है सरी
 कारु हैं ले रहे हनु श्रम को ।
 या द्विनोगान जी चारु पृता फला
 क्यों वहीं वृष है सूत्रते जा रहे ? ॥ ३४ ॥

देवभापा जहा नेशभापा रही
 क्यों वहीं आज है छारही राक्षसी ?
 क्यों वहा आसुरी नीति का राज्य है
 सभ्यता सीगने देव आते जहा ? ॥ ३५ ॥

रत्नगर्भा मही अन्नपूर्णा जहा
 क्यों वही भूत से भग्न है नग्न है ?
 हाथ क्यों धो रहा कर्म से धर्म से
 मोह में सी रहा शोन मे भग्न है ? ॥ ३६ ॥

हो चुकी आज वैसे महा भूत है ?
 क्यों लुटी देश की प्रार्थ-भू सपदा ?
 क्या हमारे अस्तकर्म वा दोष है
 या यही देश के भाग्य में था वदा ? ॥ ३७ ॥

जो हुआ सो हुआ जो गया सो गया
 धान भी तो कृपा का सहारा मिले ।
 राष्ट्र के भाल से दूर हो कालिमा
 यन्धु को यन्धुओं का सहारा मिले ॥ ३८ ॥

बाहु की शक्ति का बुद्धि की शक्ति का
 एकताशक्ति का तो हुआ हास है ।
 शून्यता दीनता है निराशा मरी
 देवि । तेरा रहा एक निश्वास है ॥ ३६ ॥

काम से क्रोध से लोभ अज्ञान से
 द्वेष-ईर्ष्या मद ध्रान्ति मात्सर्य से ।
 दुःख दारिद्र्य बाधा-जरा मृत्यु से
 बद्ध की है कहा मुक्ति सम्भावना ? ॥ ४० ॥

चित्त चिन्ता महासर्पिणी ने डसा
 बुद्धि दुर्वासना मोह से बद्ध है ।
 काय भी म्लान है व्याधियों से घिरा
 शत्रुओं से हुआ देश निध्वस्त है ॥ ४१ ॥

लुप्त विज्ञान है वीरता सुप्त है
 कान में तेल डाले हुए देश है ।
 मौन है जीभ आसों हुई मद है
 मार्ग कोई नहीं द्वार भी बंद है ॥ ४२ ॥

शक्ति से हीन दुर्भाग्य से दीन हूँ
 ग्लानि से दिन हूँ त्याक्त हूँ भाग्य से ।
 दग्ध हूँ घोर ससार-दावाग्नि से
 देवि । तू दुःख में एक आलम्ब्य है ॥ ४३ ॥

हो रहा दानों का दुराचार है
 आ रहा पाप का दुःख का भार है ।
 माँ ! करो विश्वकल्याण की कामना
 दो हमें प्रीति त्याग की भावना ॥ ४४ ॥

हे जगद्वन्दिते ! देश से प्राण दे
 आततायी तलों से हमें त्राण दे ।
 भारतीयत्व का देश को भान हो
 पूर्वजों के गुणों का हमें न्यान हो ॥ ४५ ॥

फूक दो शत्रु माँ ! भ्रान्तियाँ दूर हों
 नूतनोत्थान की दुःखभी दी घजा ।
 शक्ति के गीत गा दो जगा दो हमें
 भिन्नता को भगा दो हरो आपदा ॥ ४६ ॥

राष्ट्र की नित्य ऊँची पताका रहे
 वायु भी शुद्ध मस्तरकारी बहे ।
 भारतोद्यान में शान्ति स्मरारज्य हो
 धार्यभू मे सदा राम का राज्य हो ॥ ४७ ॥

निरत होकर भी इसभौति से
 भगवती-महिमा-स्तुति-गान में ।
 निज समग्र मनोगत भाव के
 पर नहीं पहुँचे अथसान में ॥ ४८ ॥

मति विभोर हुई अनुराग से
 भर गये दृग मौन हुई गिरा ।
 कमल में अलि सा स्तुतिभाव भी
 रह गया ढनड़े मन में धिरा ॥ ५६ ॥

कुछ विप्रक्षित जो अवशेष था
 कह सकी रसना उसको नहीं ।
 रुंध गया गल गद्गद वाप्य से
 ढँक गई स्मृति दीपक सी कहीं ॥ ५७ ॥

खुल गये युग लोचन खेद से
 त्वरित दृष्टि धरा पर ज्यों पड़ी ।
 मुदितमूर्ति वही जगदम्बिका
 प्रकटरूप समक्ष रही खड़ी ॥ ५८ ॥

यह जगज्जननी कहने लगी
 सुरथ । आज मुझे अति हर्ष है ।
 परम धन्य हुआ तुम भूप से
 जगत में यह भारतवर्ष है ॥ ५९ ॥

दुखित हो दुख से निज देश के
 यह महीपति केवल धन्य है ।
 सतत हो हित में रत अन्य के
 नर नहीं उसके सम अन्य है ॥ ६० ॥

“त्वरित जागृत भारतशक्ति हो”
 यदि महातप का यह लक्ष्य है।
 “हत पराजित हों रिपु देश के”
 यदि यही इसका उपलक्ष्य है ॥ ५४ ॥

यह दिया तुम्हें वरदान भी
 निकट निश्चित शत्रुनिनाश है।
 सफलता न नहीं अब दूर है
 विजय भारत के अति पास है ॥ ५५ ॥

यह अकिंचन साधु समाधि भी
 भजनमधन से अब मुक्त है।
 यह अलिप्त सदा इम विश्व मे
 सफलजीवन शाश्वत मुक्त है ॥ ५६ ॥

नृपति के यति के पथ भिन्न है
 चरम लक्ष्य तथापि समान है।
 अखिल कर्मविसर्जन मात्र से
 कुल्ल न हो सकता शिव-भान है ॥ ५७ ॥

उचित कर्म सभी करते हुए
 यदि नहीं उसमे अभिमान है।
 वह सुकर्म विना फल नाम के
 न करता कुछ बन्धन-दान है ॥ ५८ ॥

कथित है यतिवर्मप्रधान में
 यदि कहीं पथ कर्म निवृत्ति का ।
 वह निषेध है यति के लिए
 घृणित केवल लोत्सव-वृत्ति का ॥ ५६ ॥

यति परिचय साधु विरक्त का
 जगत का द्विज साधन कर्म है ।
 तन तथा मन ही पर के लिए
 अति मुग्ध यही श्रुति मर्म है ॥ ६० ॥

परशितप्रत-दीक्षित साधु का
 भुवन में वृद्ध कार्य दिशाल है ।
 वह सदा पथवर्शक दीप सा
 विचरता सुर से सब काल है ॥ ६१ ॥

जन सभी उसने प्रिय बन्धु हैं
 वृद्ध सभी उसके निज गेह हैं ।
 असुर है उसको पर आपदा
 सुग्ध केवल है पर सम्पदा ॥ ६२ ॥

अहित में द्विज में सम भावना
 मन सदा वरुणा रक्ष मे सना ।
 परम है सनकी शुभ कामना
 पुरुष है वह सदा महामना ॥ ६३ ॥

जगत का फरता उपकार है
 सृज का हरता रुजभार है ।
 उम तपोधन को परञ्ज के
 ग्रहण का रहता अधिकार है ॥ ६४ ॥

उदर हेतु लिए यदि वेप है
 जटिल मुण्डित लुब्धितकेश है ।
 उचित कर्म जिसे भ्रमनाल है
 यति नहीं वह धूर्त विडाल है ॥ ६५ ॥

इसलिए तुम वैश्य । बनो प्रती
 पर अमत्य न केवल वेप का ।
 प्रिय करो विचरो इस विश्व में
 सुहृद होकर देश-नरेश का ॥ ६६ ॥

अब तुम्हें न कभी भ्रम मोह हो
 मरण का भय भी मन में न हो ।
 रहित होकर हर्ष-त्रिपाद से
 परम मुक्ति इसी भय में लहो ॥ ६७ ॥

सुलभ मुक्ति नहीं सुत वित्त से
 विपुल धान्य तथा बहु भृत्य से ।
 न मिलती यह केवल याग से
 पठन से न तितर्क विवाद से ॥ ६८ ॥

विलग है मग से न विवृति के
 धृक्क है पथ से न पवृत्ति के ।
 न मिली वह योगविराग ने
 निवृत्त है पाप के यह त्याग से ॥ ६० ॥

हे शारतेय । जग के सुग्र हेतु आप
 हों विद्व्य भेष परिपातन से पवृत्त ।
 है एक मात्र तिम भेषत मुच्छिद्योग
 त्याग्यती वृपति न निव वर्म वृत्त ॥ ७० ॥

है एक मुक्तिपथ यप्रपि नापयोग
 है मुक्ति ना अपर भी पथ कर्मयोग ।
 नो भिन्न भिन्न पथ सा न है प्रवश्य
 है त्याग ना विदित किनु ना रद्वय ॥ ७१ ॥

व्योग-भा न नरमेवपर की टपा से
 हो लक्ष्म जो विभन साति या प्रभुत्व ।
 है त्याग ना नज्जके श्रुति से विधान
 है त्याग्य तितु शान मन से अतन ॥ ७२ ॥

है विजय मे न रक्षा एव मन-हेतु
 है एक मात्र मन्ता विन-न न-हेतु ।
 त्यागी न विजय प्रवण्य वजो रगत्य
 सयात्त का हृदय से गुन लो नरुत्य ॥ ७३ ॥

विद्या-तपोनिरत सतत कर्मयोगी
नीतिप्रयोगरत भूनिजयी अभोगी ।
आदर्श हों नृपति आप परार्थकारी
दुदान्त-दस्यु-दल-भारतभार-ठारी ॥ ७४ ॥

होंगे पराजित सभी रिपु धर्मघाती
लो, एक त्रौर वरदान तुम्हें सुनाती ।
सावर्णि नाम मनु अष्टम आप होंगे
हो सूर्य का तनय जन्म यदा लहेगे ॥ ७५ ॥

कोलाधरसी असुरदल को तू हनेगा अशक
धोयेगा तू धनुष बल से जन्मभू का कलक ।
होगा तेरे विमल यश से राष्ट्रशक्ति-प्रबोध
आर्यों के भी हृदयतल में मारतीयत्व बोध ॥ ७६ ॥

सुरथ भक्त समाधि विरक्त को
स्वित देकर के वर ईश्वरी ।
अथ उसी धरणीमय मूर्ति में
वह अदृश्य हृद परमेश्वरी ॥ ७७ ॥

प्रबल गल चुके हैं मोह के मेघ काले
अमय दश दिशाएँ सात्वता पा रही हैं ।
त्रिभुवनननी के वाम फी दिव्य शोभा
प्रमुदित जनता भी देखने आ रही है ॥ ७८ ॥

अष्टादश सर्ग

सुर्य भूप को देवी से वरदान मिला है
अमर-भूमि भारत को निर्भयदान मिला है ।
भव्य साधु की उचित कृत्य का ज्ञान मिला है
विश्ववन्द्य मेधा मुनि को समान मिला है ॥ १ ॥

कोलाधिध्वंसी रत्न वस्यु पराजित होंगे
जाने की अधिलभ्य यहा से वाधित होंगे ।
दण्डनीति बल से उनका निष्कासन होगा
आर्यभूमि पर नहीं अन्य का शासन होगा ॥ २ ॥

महाज्योति भवशक्ति भुवन की हेतु भवानी
प्रकट हुई है स्वयं तपोवन में वरदानी ।
दिव्य नदी के निम्न जहा आश्रम पावन है
मंगलमय वह मूर्ति यहा देती दर्शन है ॥ ३ ॥

यही जनगुति गाँव गाँव में गार गार में
श्रुतिगोत्र संप्रति हो रही थी घर घर में।
मर्त्यविरति हो चली रात यह रात शत में
श्रुति चंचल चपला की जैसे चमक रात में ॥ ४ ॥

कोशल तुम पश्चात् वन्द्य गय मद्र वा मे
ताता उता उत्ताह पश क श्रम श्रम मे।
नम श्रमर है चन श्रमर के नम नमाने
नरजीवन को मुद्रा कर्म से श्रमर नमाने ॥ ५ ॥

द्विस्त धन्य है प्रात परम पावन है वेता
प्रति विशाल पुनिशम, भरा सुन्दर है मेला।
यज्ञभूमि के निन्द नभामडप है मरी
है अक्षरय प्रागीन उदा आकर नर नारी ॥ ६ ॥

भारतभू नम्रात् सुरा भी विद्यमान है
दीप्त रहा वह दिव्यरूप निन्दर-समान है।
ज्ञान तेज है कलक रण नन्दे प्रातन से
वीर केनरी आज विश्व श्राया कानन में ॥ ७ ॥

नभामूमि का भरा हुआ कोना कोना है
देशनायक का आज यहीं निर्णय होना है।
ऊँचे प्रातन से बोले मुनिद्वय पुणेधा
सुरममाज में चतुर वेदनिधि जैसे वेग ॥ ८ ॥

अवलोकन कर शांत भाव ने नगुर दृष्टि से
सिद्धि हा कर सगस मुगमय स्नेह दृष्टि से ।
संगोदित कर आयदृन्द को लगे मुनने
भारत की चिरसुप्त शक्ति को लगे जगाने ॥ ६ ॥

अखिलविद्य यदित भारतम् के विद्वानों ।
विदित त्रिप्रविजयी क्षत्रियकुल की सन्तानों ।
अमित अश-जननी अरुनी क कुशल रिसानों ।
मुनों देश के दानवीर धार्मिक धनवानों ॥ १० ॥

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र जितने अन्त्यज है
एक जाति सत्र वश्यमादि ऋषि के वंशज है ।
सारा भारतवर्ष हमारा भवन सहज है
एकरूप से मिली सभी में इसकी रज है ॥ ११ ॥

चिरपवित्र यह देश हमारा विद्य अश है
आदि-नाल से वसा यहां पर आर्यवंश है ।
महावती रणशुशल जहा क्षत्रिय मनुष्यी
धर्यो अनार्थ है धसे यहा कोलात्रि तसी ? ॥ १२ ॥

रुद्र हुआ यह सिंहदुर्ग क्योंकर ग्याल से ?
सेन रहे है क्योंकर मूपक कृष्ण ग्याल से ?
वीर सिंह हैं क्यों शक्ति पिगल त्रिटल से ?
हार रहे नर्यो हस जानरुत की छुजात से ? ॥ १३ ॥

भूल रहे क्यों पूर्णशक्ति को भ्रातिजाल से
 क्यों अपमानित आप हो रहे गेहपाल-से ।
 अथवा लेनर दासभाज का अंक भाल से
 प्रस्त हुए हो कठिन दु त दुर्भाग्य गाल से ? ॥ १४ ॥

नहीं । नहीं ॥ हम आन हुए जो दीन रंक हैं
 कारण इसका इसी देश के नरकलक हैं ।
 जो अ यायी असुर वर्ग का साथ गहे हैं
 छल कुचक्र करने मे रिपु का हाथ गहे हैं ॥ १५ ॥

घृणित कहीं से घुसे यह। जो तस्करदल है
 इनका तो बल इन्द्रजाल है केवल छल है ।
 हैं बद्धक वे कितु आप से नहीं प्रबल हैं
 भारत की हम चार भुजाएँ सदा सबल हैं ॥ १६ ॥

राष्ट्र यही प्रत्यक्ष विष्णु तो भरतरण्ड है
 चार उर्ण जिसके मुख भुज उरु चरणदण्ड हैं ।
 बली अनादि अजेय एक अविकल अखण्ड है
 अवि उन्नत जिसका निरीट यह मेरुदण्ड है ॥ १७ ॥

जहा सुरथ सा राष्ट्रपाल सन का हितकर है
 मिला जिसे निज तप से जगदम्या का घर है ।
 जहा सनातन धर्म आर्यकुल अजर अमर है
 नहीं अन्य का यहा हमे किंचित् भी डर है ॥ १८ ॥

ठो नींद से, जागृत होकर शक्ति सँभालो
 देवभूमि से दनुजवृन्द को दूर निकालो ।
 साहस बल से शत्रुसघ का हृदय हिला दो
 सिंहनाद कर एक रात उनसे बतला दो
 'है पवित्र यह देश महान्, यहा नहीं है पापस्थान, ॥ १६ ॥

सेतुबन्ध से सह्य मलय से अचल विन्ध्य से
 रथात पञ्चनद अमरसिन्धु से सप्तसिन्धु से ।
 पूर्व सिन्धु से अपर सिन्धु तक तुहिनचल से
 ब्रह्मपुत्र नद शोण तथा सागर के तल से
 है निसका विस्तार महान्, यहा नहीं है पापस्थान ॥ २० ॥

सिन्धुदेश-गान्धार-महाथल-कुरुजागल मे
 अर्बुद गुर्जर महाराष्ट्र केरल-उत्कल मे ।
 अथ अरती मगध-वग मे कामरूप मे
 शूरसेन भरकच्छ आदि मे स्तूप यूप में
 जहा पठित है वेद पुरान, यहा नहीं है पापस्थान ॥ २१ ॥

सूर्य-चन्द्र की कश्यप की गोतम अगस्त्य की
 अत्रि अगिरा भृगु नमिष्ठ गोभिल पुलस्त्य की ।
 भरद्वाज जमदग्नि वत्स रुद्रम भार्गव की
 गर्ग पराशर कौशिक कात्यायन गालव की
 है वसुती जिसमें सन्तान, यहा नहीं है पापस्थान ॥ २२ ॥

दण्डनैकान्तरिणान्तरैकर
 चिन्तित्वात्तैर्दण्डनैर्वाजीकर ।
 जने सुता वाणी रत्नैर्गुह्यना
 द्वैर्यत्नात्तत्र पुत्री वैष्णवि प्रति पादन
 युक्ति तमैर्जहाँ मज्जा, यद्वा नदी है पापस्थान ॥ २३ ॥

विष्णुविजयिणी भरताश की जला पतना
 एतन्ना शान्ता तिमिर्गं श्रीमान्मता का ।
 रन्तिरेष नभान सार पृथु धरणीपति ज्ञ
 सुयसा कलित है जहा तामि इक्ष्वाकु वृषति मा
 जहा ननुमृति वर्णप्रधान, यद्वा नदी है पापस्थान ॥ २४ ॥

अग जग रक्षत विष्णु रमा वा सत्य छना वा
 जगत्पिता शिव नगदना वा शक्ति उमा वा ।
 दिव्य तत्र लेत, प्रतिगुण अवतार जहा हे
 सहित होता अगुरपात का भार जहा है
 जहा सुदृढ ना है नमान, यद्वा नदी है पापस्थान ॥ २५ ॥

जहा यज्ञ है सत्य शील है शत्रु सयम है
 जहा निश्चल्येण्य कर्म करना उत्तम है ।
 अति शुचि अत्र पाप भक्षण है गोरक्षण है
 जहा सदीप्त एवपतिना हुल्लक्षण है
 है नत्र ताम लोभ अज्ञान, यद्वा नदी है पापस्थान ॥ २६ ॥

जहा द्वारे आर्य पूर्वजों की वृत्तियाँ हैं
 नियमात् उनके अतीत की भी स्मृतियाँ हैं ।
 सत्य सत्ततन जहा एक ऐसी संस्थाति है
 आती जिसन किसी बाल में नहीं विद्यति है
 है यद् सफ़त पुण्य उद्यान, यहा नहीं है पापस्थान ॥ २७ ॥
 अक्षय वनभङ्गार रत्न का कोप जहा है
 आत्मभाग्य पर यथालाभ सतोप जहा है ।
 अन्यायी के अशुभ वृत्त्य पर रोप जहा है
 स्वाभिमान से जयभारत का घोप जहा है
 करते सुर जिसका गुरागान, यहा नहीं है पापस्थान ॥ २८ ॥

इसी समय उन दुष्ट दानवों से कहला दो
 सिहनाद कर सत्य बात उससे बतला दो ।
 छल वत से तुम अथ देश में क्यों घँसते हो ?
 अथदेश के भूमिभाग को क्यों घँसते हो ? ॥ २९ ॥
 किंतु शत्रु से हम जितना भयभीत हुए हैं
 वे तनार हममें जतना विपरीत हुए हैं ।
 दस्युंश से सन्धि मेल की बात चलाता
 है निष्कला सा बरिष्ठ वृद्ध को गीत सुनाना ॥ ३० ॥
 अथ उनकी दुष्ट भी कहना सुनना समझाना
 होगा जैसे अन्धनयन को दीप दिखाना ।
 नीतिकार कहते हैं रत्न की नीति बताना
 तप्त तेल में है सहसा जलधिदु गिराना ॥ ३१ ॥

अतः प्रथम अपने को ही हम सजल बनाएँ
 सर्वशक्ति से एक शक्ति की व्योति जगार्ये ।
 नहीं स्नान करने को ही यह योग मिला है
 राष्ट्रशक्ति दर्शन का स्पर्णसुयोग मिला है ॥ ३२ ॥

इसी पर्व में भ्रान्ति दासता को धो डालो
 आत्ममार्ग विद्वेष कलह सन्नेह मिटा लो ।
 यही नीति सदेश सर्वसंमति से मानो
 शत्रुसघ से त्वरित यज्ञ सगर का ठानो ॥ ३३ ॥

अरे बहुत सो चुके नहीं था जितना सोना
 सब धुँध है सो चुके वदा था जितना सोना ।
 बहुत अधिक रो चुके अहिंसा अत्र रोना
 है केवल अवशिष्ट एक सगर का होना ॥ ३४ ॥

मन्त्र तन्त्र के नहीं समय है अब साधन का
 अन्य यज्ञ के नहीं समय है आराधन का ।
 नहीं उचित अत्र अन्य देव का पुरश्चरण है
 आदिशक्ति करवाल कालिका एक शरण है ॥ ३५ ॥

तद्गुरूपिणी शक्ति यही भीषण काली है
 यह चण्डी प्रत्यक्ष शत्रु खाने वाली है ।
 कालजीभ सी चण्डमुण्ड को चाट चुकी है
 कई बार तितने असुरों को काट चुकी है ॥ ३६ ॥

धर्मयुद्ध में आज परस्परभेद हटा कर
 वठें आप सब साथ हाथ में गद्ग उठाकर ।
 चलें धीर जन उचित धीरवर्तव्य निभाने
 असुरवृन्द से मातृभूमि को मुक्त कराने ॥ ३७ ॥

रिपुकुल से यदि अन अपमान नहीं सहना है
 यदि सुल से आगे सब को जीवित रहना है ।
 यदि बन्दी भारत का है उद्धार कराना
 दुःखसागर से राष्ट्रपोत को पार कराना ॥ ३८ ॥

यदि है निन कुलधर्म वेद गीतश बचाना
 पूर्वजनों की भा बहनों की लाज बचाना ।
 अजगर के मुख से भारी सुतान बचाना
 तो अवश्य है एक उचित रणयज्ञ रचाना ॥ ३९ ॥

शूद्र वैश्य अन्त्यज चाहे द्विज हो श्रुतिपाठी
 गहे गर्ग से गठित गंठीली तर में लाठी ।
 यह यमात्र है धर्मराज का कठिन दण्ड है
 यहा सुलभ सर्वत्र सदा यह वंशतण्ड है ॥ ४० ॥

यही यष्टि है युद्धभूमि में वीरसगिनी
 लपक लिपट रिपु को डसती जैसे भुजगिनी ।
 अति गर्वित दुष्टों की है यह गर्गगिनी
 सीस भुजा-कटि दत्त भंजिनी रत्नरंजिनी ॥ ४१ ॥

कभी घुदकर है अग्नि के जलमय समाती
 चूर चूर कर देती है पत्थर सी छाती ।
 अति कठोर भी कभी शत्रु का हाड चबाती
 तो भी यह भूखी चण्डी भी नहीं भयाती ॥ ४२ ॥

करी सगर-सभार हाथ में दंडे लें लो
 अरिमण्डल के साथ युद्ध में सुजकर खेलो ।
 अथ है इस सुखी को दूरे से तुलभाना
 नहीं उचित है हमें मोन हीनर पद्विताना ॥ ४३ ॥

जन्मभूमि हो शुद्ध शान्त फिर जपना माला
 आज उचित है यदा हाथ में लेना माला ।
 पलकंकर यह धुपित रुद्र का घोर शूल है
 सुखजीवन का परममुक्ति का यही मूल है ॥ ४४ ॥

इसी शूल को वीरभद्र ने कर में धारा
 पकड़ करीब गिव के बैरी का शीत जलाया ।
 नहीं ठहरते दुष्ट कभी दसके भोंकों से
 लिखे गये इतिहास करें इराके तीर्थों से ॥ ४५ ॥

इसी शूल से चण्डी ने महिषासुर मारा
 रत्न निशुभ को सफल शुभ को था सक्षरा ।
 देवशक्ति ने अनुशक्ति को जहा पछारा
 दुष्टा सुरापुर सगर का इससे निपटारा ॥ ४६ ॥

गभी और है एक प्रसर उतिष्ठति तिग्गाता
 भारी संतति को भी है यह मार्ग दिखाना ।
 धनुष-बाण ता रोद जगाना लक्ष्य मित्राना
 विना वनुष है व्यर्थ प्रकल त्पु को वमजाना ॥ १७ ॥

समा अदिना प्राप्ति गच्छ ही चुके पुगने
 जाने वर है दम्भु गनत्रो ने भय माने ?
 अत्र, असगत तात कर्षी स्मन्तो रहने दो
 वनुष बाण की बात प्रभी मुक्तकी करने दो ॥ १८ ॥

यही चार है अस्त्र नीर का वताशाली का
 यही प्रभुत्व है अस्त्र त्रिजगु का वग्माली का ।
 जब जब देवभूमि पर दानवदल था प्राया
 उसी धनुष से मार सुगों ने उहे मगाया ॥ १९ ॥

हुआ घोर अन्धकार महा जब जानकर का
 बहुत समय तक युद्ध चला नमसे शंकर का ।
 क्षेत्र वनुष विनाश शंभु ने जय ललमारा
 क्रिया क्षणों में क्षार उसे भूलोद जाया ॥ २० ॥

नेदों ने उतिष्ठाम तिग्गा है उम मंगर का
 देवराज के नाथ हुआ जो घृत्रासुर का ।
 छोटी है क्षणलक्ष्य घनों में जिमकी रेखा
 उसी धनुष से घृत्रनाश देवों ने देखा ॥ २१ ॥

यही पाठ है अभी देश को यहा पढ़ाना
देश धर्म के लिए उचित है चाप चढ़ाना ।
स्वतन्त्रता की इस पर ही आधार शिला है
भीत विश्व को सदा इसी से प्राण मिला है ॥ ५२ ॥

यही शक्ति है यही प्रथम मानव का बल है
यही दुःख-दारिद्र्य दासता का अर्गल है ।
क्रुद्ध काल की भ्रुकुटि कुटिल यह धनुसायक है
चिह्न यही क्षत्रियराज का परिचायक है ॥ ५३ ॥

पर शस्त्रों की शक्ति संगठन में बसती है
विघटित दल की शक्ति भिन्नता से नशती है ।
देशशक्ति का व्यापक भी बल तब मिलता है
जब समाज या राष्ट्र एक होकर मिलता है ॥ ५४ ॥

मानों शुभ आदेश सुरथ नृप का नेता का
आयदेश के रत्न असुरदल के जेता का ।
यदि रण का प्रस्ताव आप भव को सम्मत हो
'जय भारत' के साथ सभास्थल में स्वीकृत हो ॥ ५५ ॥

करो संगठन का प्रण विन्तु नहीं बातों से
शस्त्रसाध्य क्या विजय सुलभ होगी छातों से ?
जगें युवक रणधीर शत्रुदल को ललकारें
सज्जित हों धनु तीर क्षपल धमकें तलवारें ॥ ५६ ॥

भीतिनिवारण जयकारण अरिवृन्दविदारण
 बलसंचारण निस्तारण उद्धारण मारण
 यदि रण रिपु के उत्सारण पर्यन्त न होगा
 तब तक इस अपमान दुःख का अन्त न होगा ॥ ५७ ॥

प्रस्तुत को एक स्वर से सुनकर अनुमोदित
 जनममाज की मुप्र शक्ति को कर उद्बोधित ।
 धारिद रव भी विरत हुई गुरुवर की वाणी
 जाग उठा रस रौद्र सिंह जैसे अभिमानी ॥ ५८ ॥

गत शासन के दोषों का कर अनुसन्धान
 उमी सभा मे बना एक शुभ राज्य विधान ।
 योग्य मन्त्रिमण्डल का कर अभिनय निर्माण
 किया भूप ने पुन शत्रुदल पर अभियान ॥ ५९ ॥

किमको क्या करना है यह सब को समझाकर
 गुप्त तथा प्रत्यक्ष युद्ध की रीति बताकर ।
 सभा विसर्जित हुई घोषणा कर सगर की
 हुई शक्ति विज्ञात सत्य देवी के घर की ॥ ६० ॥

यद्द्वान्त में भगवती जगदम्बिका की
 है भासमान अति अद्भुत आननश्री ।
 दुर्दांत दुष्ट बलगन्धित दानवों की
 है चाहती त्वरित भारत से इतिश्री ॥ ६१ ॥

एकोनविंश सर्ग

कुलपति का राग्नेश देश ने मन को भाया
घृत जैसे प्रव्रतित यन्त्रायक ने पाया ।
लेकर रगुलदेश वहा से धीर मयाने
श्रमदीन से चले तिनिर मे रह दिवाने ॥ १ ॥

गुनिदुलसदुल शैल तपोवन तीर्थ घाट ने
जनममृद सकुल पुर पतन हाट घाट ने ।
गूँन गया मदेश देश के शान्त गान से
जाग चली उन्मादशक्ति सहसा जा जन मे ॥ २ ॥

जन्मा के भ्रमजाल मोर यत्र टूट चुके हैं
देव लिया है उन्हें उने जो तूट चुके हैं ।
सावगत है राष्ट्र आत शंकर सा भोला
ब्याजामुत्ती समान नेत्र हे चिर से लोला ॥ ३ ॥

मुमति आज है वसी सभी के अन्वस्तल में
 संघशक्ति है जाग उठी मण्डल मण्डल मे ।
 आर्यभूमि है धनी प्रवलदुर्गा स्थल जल मे
 व्यक्त हो रही त्रिविध शक्ति भारतभूतल में ॥ ४ ॥

सुगम हो गया मार्ग कण्टकों से दुस्तर है
 गलित हो गया विघ्न तथा बाधा का डर है ।
 आया जिसदिन यहा अटल विश्वास परस्पर
 सबल हो गया आर्यराष्ट्र निज बल पर निर्भर ॥ ५ ॥

जिस दिन भारतवर्ष देश ने तजी उदासी
 जिस दिन मिलकर एक हुए सब भारतवासी ।
 जिस दिन चण्डी हुई शत्रुशोणित की प्यासी
 अट्टनाद कर उठी प्रलय की घोर घटा सी ॥ ६ ॥

जिस दिन गृही वीरगर्भ-गुफित गुरुवाणी
 जिस दिन कोपी करों करों मे क्रूर कृपाणी ।
 जिस दिन फडकी युवक युवक की भुजा प्रचण्डा
 बालक भी उठ चले हाथ मे लेकर दंडा ॥ ७ ॥

जिस दिन उठे असंग्य कृपक भारतजयकारी
 परशुराम से चले परशु लेकर भयकारी ।
 उस दिन होकर चकित विश्व ने है यह जाना
 'आर्यदेश है अभय आर्यशोणित से साना' ॥ ८ ॥

चढे गनों पर गदी रथों पर बाणनिपंगी
जिस दिन घोड़े साज चले क्षत्रिय रणरंगी ।
कोप कोप से निकल पडी जब कालभुजगी
उस दिन ऋषे दस्यु देख भारतरणभंगी ॥ ६ ॥

एक एक जन देशनिवासी, ले चला मुदित है रणदीक्षा
काल भी समर मे उनकी है, ले रहा कठिन वीरपरीक्षा ।
किन्तु आज इस भारत ने है, वीरधर्म अपना पहिचाना
भव्य माल पर से जननी के आज है मलिन दाग मिटाना ॥ १० ॥

देश लग्न है आज पाप अपना धोने मे
नहीं त्रिपा है भीरु कहीं कोई कोने मे ।
देह मोह तन अमर चले संगर करने को
समुख रण मे शत्रुमार हरने तरने को ॥ ११ ॥

दुर्ग दुर्ग पर अभय चढे त्रिनयी रणवके
व्योम वधिर हो गया वजे ज्यों ही रणवके ।
धँसा धूल मे भानु डगामग भूतल डोला
भारत की जब कुपित चण्डिका ने मुँह खोला ॥ १२ ॥

गाज चले घन-तुल्य नगाड़े, वजे शंस रणघट जुम्कारे
नाच उठी भारतरणचण्डी कुन्त केश मुग्ध-रङ्ग उघाड़े ।
कुटिल चाप वक्रित नयनों से जगल चली धारणों की ज्वाला
लपक लपक कर असि जीभों से चाट चली रिपुशोणित-हाला ॥ १३ ॥

उज्रल उज्रल उद्भट रणचण्डी लगी मृत्यु का नाच दिग्गने
 काट काट कर करवालों से शत्रुकण्ठ वह लगी गिराने ।
 दौड दौड मोटे दंठों से ठोंक ठोंक रिपु लगी ठँठाने
 हल हल हठ से धैरी को कहीं गल से लगी उठाने ॥ १४ ॥

चूर चूर कर घोर गदा से कहीं धूल में लगी मिलाने
 फाड फाड करके फरमों से कहीं भूमि पर लगी सुलाने ।
 कहीं हाथ से लगी हटाने कहीं गर्त में लगी दधाने
 महामत्त उद्धत रणचण्डी लगी दस्युमंहार मचाने ॥ १५ ॥

भगे भूत कोलात्रिध्रंसी चले त्याग उनकी अत्र सगी
 भाग चली उनकी सेना भी जैसे केहरि भीत कुरगी ।
 आत्मपक्ष से त्रिसुग्य कुमगी रहे बने जो रिपु के अग्नी
 छिपे कहीं जाकर खोहों में वे जैसे परहीन विहंगी ॥ १६ ॥

हटे महारिपु दुष्ट हठीले कापे कई पडे कुछ पीले
 सूखे ओठ नयन से गीले गये कई त्रधन से कीले ।
 महिष तुल्य कितने मतवाले रहे मौन अत्रनी पर डाले
 हाथ जोड कितने छलवाती रहे कीश से खीम निकाले ॥ १७ ॥

दूर चले रण से मुग्य मोडे पडे कई पीठों पर कोडे
 जहा बने थे मग के रोडे आज उसी भारत को छोडे ।
 भूल गया सब लूट मचाना गात्र नगर में आग लगाना
 किन्तु नहीं उनको भूलेगा तीव्र मार बँतों की खाना ॥ १८ ॥

कामधेनु भारतभू का जो रक्त पी रहे थे चीते से
 आज उमी की गली गली में भटक चले भूखे कुत्ते से ।
 अन्य देश के जो विभवों पर कभी लगा बैठे थे ताले
 आज किंतु मुए दीए रहे हैं कान्तिहीन कज्जल से काले ॥ १९ ॥

निष्कलक उज्ज्वल पहले सा भाल देव्य माता का
 राजभवन पर फिर लहराई रामराज्य की अमर पताका ।
 कुटिल कुचक्रों के पुतले थे पूर्वसचिव जो अत्याचारी
 क्षमानाथ के वे चरणों में क्षमा हेतु बन रहे भित्तारी ॥ २० ॥

किन्तु अजल को जो दलते हैं कूट कपट से जो छलते हैं
 अन्य-परिश्रम के फल को भी जो ग्राहक मोटे पलते हैं ।
 जो स्वधर्मपथ से टलते हैं आर्य-धर्म पर जो जलते हैं
 क्यों न गर्ले वे निन पापों से पापमार्ग पर जो चलते हैं ? ॥ २१ ॥

जहा वहीं दानव करते हों मार्गरोध शुभ-कार्य विरोध
 आर्यनीति कहती उनका हो शीघ्र दण्डवत् से प्रतिरोध ।
 मानव जो दानव बन जाते अन्य देश पर हैं छा जाते
 आर्यदेश उनका बैरी है जो हिसाबल पर हों माते ॥ २२ ॥

कोई भारत में अनार्य धुन हैं जो भी घुसे घात से
 आर्यों ने उनकी सदा हन दिया है शस्त्रसंघात से ।
 आर्य जो घर अन्य के पर वहीं स्वामी बने हों अडे
 ऐसों को रिपुहाड वे हंस रहे सूखे यहीं हैं गडे ॥ २३ ॥

विंशतितम सर्ग

धीती मोहनिरा गया तम हुआ सर्वत्र आलोक है
कैसा आज नया प्रभात शुभ है आया कहीं दूर से ।
प्राची में निकला प्रसन्न सविता नेता महीपाल भी
भू का मव्य ललाट उल्लसित है सौभाग्य सिंदूर से ॥ १ ॥

दोनों अस्त रहे समान फिर से दोनों हुए दृश्य हैं
दोनों हैं मन में लिए जगत् के कल्याण की कामना ।
दोनों हैं तप से विशुद्ध महिमाशाली विशालप्रती
दोनों का विमल प्रकाश यश भी आश्चर्य से है सना ॥ २ ॥

बुद्धिप्रेरयिता जगत्प्रसजिता नेता नियन्ता पिता
कर्ता वासर वर्ष मास ऋतु का धाता समुद्भासिता ।
जो मार्तण्ड रहा कहीं उदय के अज्ञात उद्योग में
बिदग्ध्याप्त अखण्ड तेज उसका ब्रह्माण्ड में है लसा ॥ ३ ॥

गोप्ता गो श्रुति माधु का शमयिता अन्याय का ताप का
शास्ता दुर्जन-दस्यु वा नमयिता उदण्ड का चाप का ।
मानी सूर्य-ममान जो सुरथ भी एकान्त था साधता
शोभा से उसके महामुदित सी है आर्यभू गप्रिता ॥ ४ ॥

दुष्टों के दल से अमात्य-छल से दुर्नीति दुर्भाग्य से
त्राता है जिसके महामुनि गुरु ज्ञानी सुमेधा ब्रती ।
श्रद्धा से जिसकी हुई भगवती प्रत्यक्ष विश्वेश्वरी
तेजस्वी उस भूप से सुप्रित है विश्वभरा सप्रति ॥ ५ ॥

भयाग्रहा यद्यपि कालिकोपमा
रणस्थली है रिपुमुण्डधारिणी ।
सुवृत्त है पाकर रक्त राष्ट्र से
वही स्वय राष्ट्रसमृद्धि-कारिणी ॥ ६ ॥

अनेक जैसे पशु काट यज्ञ में
दिये गये दानव युद्ध में बलि ।
अदण्ड पृथ्वी तप आर्यदेश की
अजेयदुर्गा स्वयमेव ही चली ॥ ७ ॥

कुचक्रिणी दानवराज्य-यन्त्रणा
उसी महासागर-यज्ञ में जली ।
चली गई भारत से प्रताडिता
अनार्यता दस्यु-कुजाति-मण्डली ॥ ८ ॥

सभीत सूर्योदय मे उलूक से
 स्वदेश के शत्रु विलीन हो चलें ।
 अनेक जो श्रान-समान गीन थे
 त्रिपक्ष के जूठन से कहीं पले ॥ ६ ॥

विदेहजा उज्ज्वल सी चिताग्नि मे
 मर्याग्नि मे दक्षसुता महासती ।
 रणाग्नि मे दग्ध समस्तकिल्बिषा
 हुई पुन ससृष्ट आर्य-ससृष्टि ॥ १० ॥

अतीत की त्रिस्मृत आर्यचेतना
 नवीन सी होकर राष्ट्र मे जगी ।
 स्वतन्त्रता के उस वर्तमान मे
 भविष्य के उन्नतिकार्य मे लगी ॥ ११ ॥

रची सभी को अपनी चरित्रता
 मुकर्म से दूर हुई दरिद्रता ।
 स्वदेश मे सन्मति विद्वमित्रता
 हुई तप पूत पुन मनुष्यता ॥ १२ ॥

पत्रिण यज्ञाहुति से गतज्वरा
 हुई प्रजा भी निन-शक्ति-निर्भरा ।
 प्रयत्न से निमित्त भूरि उर्वरा
 अवाधिता तस्कर-दस्यु से धरा ॥ १३ ॥

विनम्र शारदा फल-पुष्प-भार से
 नदी हुई भूपित सिन्दुवार से ।
 विभासित व्योम शुचि प्रकाश से
 तडाग भी शोभा हंसवाम से ॥ १४ ॥

वही पुन वायु सुगन्धवाहिनी
 सुहृव्य से पानक वृत्त हो चले ।
 प्रशस्त गोजाति हुई पयस्विनी
 घरों घरों में घृत के दिवे जले ॥ १५ ॥

दिशा हुई गुञ्जित शरणाद से
 सरस्वती मण्डित वेदवाद से ।
 सुवृत्त सरक्षित राजधर्म से
 हुए पुन दण्डित पाप धर्म से ॥ १६ ॥

समाधि को शान्ति मिली विरक्ति में
 न मोह था आत्मज वित्त दार से ।
 विमुक्त भी हो वह विश्वजाल से
 अदूर था किन्तु परोपकार से ॥ १७ ॥

नहीं उसे है भय दुःखयोग का
 न भोग की है उपलब्धि-कामना ।
 दसों दिशाएँ सुररूप हो चलीं
 हुई सभी में जय आत्मभावना ॥ १८ ॥

सुरथ भूपति भी यति तुल्य ही
निरत है न किसी सुखभोग मे ।
अनुग होकरके मनुमार्ग का
अवनि के रत है हितयोग मे ॥ १६ ॥

न मृगयाव्यसनी न दुरोदरी
न गणिका-प्रणयी न अपव्यथी ।
वह महीप मही पर धन्य है
अरिबिदारण मे रण में जयी ॥ २० ॥

सुरित है रहता जा-सौर्य से
असुख से जन के दुख-पात्र है ।
सहज बन्धव है निज राष्ट्र का
वह न केवल शासक मात्र है ॥ २१ ॥

सरल धारण है सित छत्र का
कठिन है न किरिट संभालना ।
अधिक दुष्कर है पर अन्य को
सुरथ-सा नृपतिव्रत पालना ॥ २२ ॥

सुमत से गुरुदेव महर्षि के
नृपति के जनमान्य विचार से ।
भुवनभासित भारत हो चला
अमित वैभव घुद्धि उदार से ॥ २३ ॥

प्रथित आर्यधरा पर शाश्वती
 उदय देव विशेष विभूति का ।
 अमर भी सत्र त्रिस्मित गा चले
 गुणमयी यह भारतगीतिका ॥ २४ ॥

जय त्रिभासित-वेदविभाकरे ।
 सतत-शोभित-शास्त्रसुधाकरे ।
 जय सनातन-संस्कृति भास्करे ।
 जननि । भारतउर्ष-उसुन्धरे । ॥ २५ ॥

मधुर गाङ्ग सुधाजल निर्मरे ।
 कुमुद पङ्कज-मञ्जु सरोयरे ।
 चलितवेग महानद दुस्तरे ।
 जय तरङ्गित भीषण सागरे । ॥ २६ ॥

अचल कानन गुम्फित गह्वरे ।
 विपुल-तुङ्ग-महीरह-भूधरे ।
 प्रवलसिंह-निनादित-कन्दरे ।
 जय महाघन गजित कुञ्जरे । ॥ २७ ॥

कल विहङ्गम भृङ्ग रत-स्वरे ।
 द्रुम-लता फल पुष्प मनोहरे ।
 हरित-शाद्वल-सस्य-उराम्बरे ।
 जय सुवर्णधरे । रजताकरे । ॥ २८ ॥

रत्नजवस्तु-महाधनशालिनी
 रचिररूप-सुगन्ध-रसालिनी ।
 गुणपती गृहमङ्गल-भालिनी
 जयतु चारु पुर व्रतपालिनी ॥ २६ ॥

प्रिधितापहरे । करुणाकरे ।
 अखिल-वृत्तिकरे । रचिताधरे ।
 सबल-कोटिभुजे । जयदायिनी ।
 जय सदा शिवयोग विधायिनी । ॥ ३० ॥

है स्वर्ग तो अशिव नश्वर भोगभूमि
 है निन्द्य ही नरक केवल दुःखभूमि ।
 है एक तू परम पावन मुक्तिभूमि
 प्रियभरा सुकृतसाधन-कर्मभूमि ॥ ३१ ॥

तप अधिक न जाने क्या नरों ने किया है
 इस मुनिजनभू मे जन्म कैसे लिया है ?
 शिवपद-अनुरागी हैं यहा धन्यभागी
 अप्रिस्त रहते निष्काम-कर्मनुरागी ॥ ३२ ॥

गतिरहित जहा हो कर्म की पुण्यधारा
 विष विषय वहा है नेह है बन्ध-कारा ।
 हम सुपित सुरुओं के स्वर्ग को भूल जाय
 इस अपिपुल-भू मे ही पुनर्जन्म पाये ॥ ३३ ॥

चकित विश्व पुन कहने लगा
 अभय जागृत भारतदेश है ।
 भगवती यह भूमि शिवप्रिया
 अतुल अद्भुत सृष्टि विशेष है ॥ ३४ ॥

अखिलभुवनमाता है सदा जो जगाती
 अतुलित महिमा से विश्व में संघशक्ति ।
 अविरत उस देवी की कृपा आर्यभू के
 जन-गण मन में दे सर्वदा देशभक्ति ॥ ३५ ॥



एकविंश सर्ग

मार्कण्डेय पुराण पूर्वयुग का जो वृत्तविस्तार है
 दुर्गासप्तशती चरित्र उसके सदेश का सार है ।
 आर्यों का यह शक्तिमन्त्र जनता जागति का पाठ है
 श्रद्धा से करते मनुष्य इसका लाखों सदा पाठ है ॥ १ ॥

श्रीमेधा मुनि से मिला सुरय को जो शक्ति का ज्ञान है
 देवी के यह दिव्य भागवत में पूरा उपाख्यान है ।
 है शक्तित्रय-भासिनी यह कथा अज्ञानसंहारिणी
 दुष्टों के दमनार्थ युक्ति इसमें है भारतोद्धारिणी ॥ २ ॥

इस चिरायुष-शक्तिरहस्य में
 कुछ अलौकिक भाव सुगूढ है ।
 लय नहीं सकता इस नेत्र से
 भगवतीमहिमा जन मूढ है ॥ ३ ॥

यह क्यानक विस्तृत शुभ्र भी
 अकथनीय अचिन्त्य विचित्र है ।
 रुचिर किन्तु नहीं कविलेखनी
 रच सकी कवितामय चित्र है ॥ ४ ॥

निरधिकार महाकविकर्म मे
 यदि नहीं जँचता कवि मद है ।
 पर नहीं कुछ उत्सुक गूँजता
 सुरभि का गुण कौन मिलिन्द है ? ॥ ५ ॥

यदि नहीं कविकर्म अदोष है
 तदपि शक्तिरथा यह शुद्ध है ।
 निकट आकर के सुरसिन्धु के
 सलिल पकिल भी अति शुद्ध है ॥ ६ ॥

त्रिविध पातङ्गपुञ्ज विनाशिनी
 त्रिपथगा यह शक्तिरथा-त्रयी ।
 अति पुरातन है पर भासती
 भुवनपावन नित्य नई नई ॥ ७ ॥

सुरय की यह कीर्ति-तरङ्गिणी
 तरल होकर शक्ति-तरङ्ग से ।
 रण-सुसज्जित सी चतुरङ्गिणी
 चल रही ऋ वीर-उमंग से ॥ ८ ॥

सुचिर काल रही अघन्द्व सी
 गहन पावन संसृत देश मे ।
 यह चली अत्र नूतन द्वाद से
 सुगम सुन्दर त्रिसृत देश मे ॥ ९ ॥

द्रुतविलम्बित है वहती कहीं
 ललित भी गति है गहती कहीं ।
 मिल चुके कितने गण वर्ग हैं
 ग्व लिये इमने निज सर्ग हैं ॥ १० ॥

अधिक ओज कहीं रम अल्प है
 पर कहीं यह शान्त अगाध है ।
 निगम-कूल-नियन्त्रित मार्ग से
 वह रही यह मुक्त अबाध है ॥ ११ ॥

यह पुरातन भी निज मार्ग को
 समय देर नहीं यदि मोडती ।
 अचल पूर्ण सनातन लक्ष्य से
 पर कदापि नहीं मुख मोडती ॥ १२ ॥

क्षण जहा अगगाहन मात्र से
मिल सके कुछ उज्ज्वल भावना ।
विफल है उसमे कत्रिदृष्टि से
कुपित हो गुणदोष-प्रिभायना ॥ १३ ॥

यह न नूतन अन्धसुधार है
प्रिकृतमानस का न प्रिकार है ।
यह सनातन सत्य विचार का
मधुर भारत सस्कृति सार है ॥ १४ ॥

यह न केवल शक्तिनिग्रन्ध है
यह न नेत्रल काव्य प्रवन्ध है ।
यह न केवल प्रीरचरित्र है
रुचिर भारत का यह चित्र है ॥ १५ ॥

यह न पश्चिम का रुचिवाद है
क्षणिक शुक्र यहा न प्रिवाद है ।
भगवती यह जागृत-शक्ति का
अभय-पूरित शंसनिनाद है ॥ १६ ॥

यह किसी न निरकुश धृष्ट का
कुमतिमल्पित भक्त अलाप है ।
यह किमी न पलायित भीरु का
करण अप्रिय दैन्य-प्रिलाप है ॥ १७ ॥

द्रवित है यह मानव-ताप से
पर प्रशान्त दानवचाप से ।
भरित है यह भारतवर्ष के
चिर यशस्वर कार्य-मलाप से ॥ १८ ॥

ललित है कवि की न यह कला
सरस है न अलङ्कृत कल्पना ।
हृदय में हमारे शुचि भाव से
फलित है यह केवल कामना ॥ १९ ॥

अटल मुरथ जैसे वीर हों स्वाभिमानी
प्रबल रिपुदलों को शक्ति से जो भगा दें ।
गुण कुशल सुमेधा हों जनभ्रान्तिहारी
कठिन समय में जो देशनिद्रा जगा दें ॥ २० ॥

हो राष्ट्र में उदय शाश्वत दिव्यशक्ति
दे विश्व को अभय दूर करे प्रमाद ।
जागति शान्ति-जय हेतु दिशा दिशा में
गूजे पवित्र उसका यह शस्त्रनाद ॥ २१ ॥

पूरणानन्दम

